वर्ष ४४ अंक ४ अप्रैल २००६
मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)
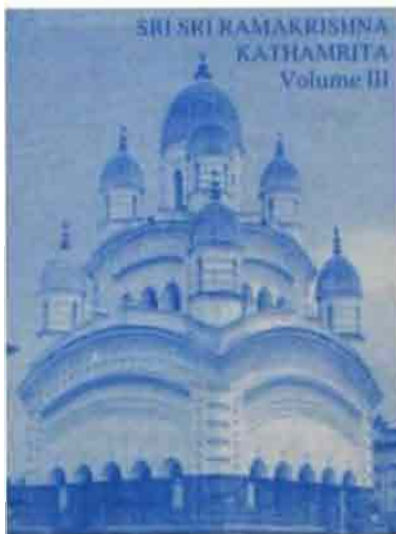
JUST RELEASED

VOLUME III
of
Sri Sri Ramakrishna Kathamrita

in English

A verbatim translation of the third volume of original Bengali edition. Available as hardbound copy at *Rs. 150.00 each* (plus postage Rs. 30.00). Available online at: *www.kathamrita.org*

HINDI SECTION

❑ **Sri Sri Ramakrishna Kathamrita**	Vol. I to V	Rs. 300 per set (plus postage Rs. 50)

M. (Mahendra Nath Gupta), a son of the Lord and disciple, elaborated his diaries in five parts of 'Sri Sri Ramakrishna Kathamrita' in Bengali that were first published by Kathamrita Bhawan, Calcutta in the years 1902, 1905, 1908, 1910 and 1932 respectively. This series is a verbatim translation in Hindi of the same.

❑ **Sri Ma Darshan**	Vol. I to XVI	Rs. 825 per set (plus postage Rs. 115)

In this series of sixteen volumes Swami Nityatmananda brings the reader in close touch with the life and teachings of the Ramakrishna family: Thakur, the Holy Mother, Swami Vivekananda, M., Swami Shivananda, Swami Abhedananda and others. The series brings forth elucidation of the Upanishads, the Gita, the Bible, the Holy Quran and other scriptures, by M., in accordance with Sri Ramakrishna's line of thought. **This work is a commentary on the Gospel of Sri Ramakrishna by Gospel's author himself.**

ENGLISH SECTION

❑ Sri Sri Ramakrishna Kathamrita	Vol. I to III	Rs. 450.00 for all three volumes (plus postage Rs. 60)
❑ M., the Apostle & the Evangelist (English version of Sri Ma Darshan)	Vol. I to X	Rs. 900.00 per set (plus postage Rs. 100)
❑ Sri Sri RK Kathamrita Centenary Memorial		Rs. 100.00 (plus postage Rs. 35)
❑ Life of M. and Sri Sri Ramakrishna Kathamrita		Rs. 150.00 (plus postage Rs. 35)
❑ A Short Life of M.		Rs. 50.00 (plus postage Rs. 20)

BENGALI SECTION

❑ **Sri Ma Darshan**	Vol. I to XVI	Rs. 650 per set (plus postage Rs. 115)

All enquiries and payments should be made to:

SRI MA TRUST
579, Sector 18-B, Chandigarh – 160 018 India
Phone: 91-172-272 44 60
email: SriMaTrust@yahoo.com

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अप्रैल २००६

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४४
अंक ४

वार्षिक ५०/- **एक प्रति ६/-**

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में — वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन — २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(८) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि किसी पिछले अंक से बनना हो, तो सूचित करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें — 'नया सदस्य'।

(३) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(६) सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनि-आर्डर** से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट — **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें।

(७) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४४ अप्रैल २००६ अंक ४

वैराग्य-शतकम्

त्वं राजा वयमप्युपासित-गुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः
ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः ।
इत्थं मानधनातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं
यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः ।।५१।।

अन्वय – त्वं राजा वयमपि उपासित-गुरु-प्रज्ञा-अभिमान-उन्नताः, त्वं विभवैः ख्यातः, नः यशांसि कवयः दिक्षु प्रतन्वन्ति; इत्थं आवयोः उभयोः अन्तरं मान-धन-अति-दूरम्। यदि अस्मासु पराक्-मुखः असि वयम् अपि एकान्ततः निःस्पृहाः ।।

भावार्थ – एक वैराग्यवान संन्यासी राजा से कहते हैं – हे राजन्, यदि तुम्हें राजा होने का अहंकार है, तो हम भी गुरु की सेवा से प्राप्त विवेक-बुद्धि के गर्व से गर्वोन्नत-मस्तक हैं; यदि तुम धन-वैभव के कारण प्रसिद्ध हो, तो हमारी विद्या का भी कविगण दिग्-दिगन्त में यशोगान किया करते हैं। इस प्रकार धन-मान के क्षेत्र में हम दोनों में काफी भेद है। यदि तुम हमारे प्रति अनादर का भाव रखते हो, तो हम भी तुम्हें पूर्ण उपेक्षा के भाव से देखते हैं।

अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीश्महे यावदर्थं
शूरस्त्वं वादिदर्पव्युपशमनविधावक्षयं पाटवं नः ।
सेवन्ते त्वां धनाढ्या मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामा
मय्यप्यास्था न ते चेत्त्वयि मम नितरामेव राजन्ननास्था ।।५२।।

अन्वय – त्वं अर्थानाम् इशिषे, वयम्-अपि च गिरां यावत्-अर्थं इश्महे; त्वं शूरः, वादि-दर्प-व्युपशमन-विधौ नः अक्षयं पाटवं; धनाढ्याः त्वां सेवन्ते; श्रोतु-कामाः माम् अपि मति-मल-हतये; राजन् मयि चेत् ते आस्था न, त्वयि अपि मम नितराम् एव अनास्था ।

भावार्थ – हे राजन्, यदि तुम धनाधिपति हो, तो हम भी शास्त्रों का मर्मार्थ जानने में कुशल हैं; यदि तुम युद्ध में शत्रुओं के दमन में कुशल हो, तो हम भी शास्त्र-व्याख्या में प्रतिवादियों की विद्वत्ता का गर्वनाश करने में पटु हैं; यदि धनाकांक्षी लोग धन के लोभ में तुम्हारी सेवा करते रहते हैं, तो चित्त की मलिनता को दूर करने के इच्छुक धर्म-तत्त्व के जिज्ञासुगण श्रद्धापूर्वक हमारी सेवा में लगे रहते हैं; यदि आपको हमारे प्रति कोई श्रद्धा नहीं है, तो हमारी भी तुम्हारे प्रति जरा भी आस्था नहीं है।

– भर्तृहरि

गीति-वन्दना

– १ –

(असावरी या भीमपलासी-कहरवा)

(एक बँगला भजन का भावानुवाद)

जीव समर को सज्जित हो जा,
रह मत पड़ा निढाल ।
तेरे घर में रण-आतुर हो,
घुसा आ रहा काल ।।

हो आरुढ़ भक्ति के रथ पर,
कन्धे पर प्रज्ञा तुणीर धर ।
जिह्वा धनुष प्रेम की डोरी,
नाम तीर विकराल ।। तेरे घर में ..

और एक विधि महायुद्ध का,
काम न इसमें तीर-धनुष का ।
हो यदि युद्ध जाह्नवी तट पर,
शत्रु निहत तत्काल ।। तेरे घर में ..

– २ –

(जैजैवन्ती या रागेश्री–कहरवा)

जीवन की आपाधापी में,
प्रभु बिन कोई नहीं अपना।
नाम-रूपमय सकल चराचर,
चार दिनों का है सपना।।

दूर हुए सब विषय हमारे,
वे ही एक रहे ध्रुवतारे।
और न कुछ करना, बस बाकी,
साधन-भजन और तपना।।

यह जीवन है भूल-भूलैया,
भवसागर में तिरती नैया
सुख-दुख हानि-लाभ के भीतर,
प्रतिपल रामकृष्ण जपना।।

– *विदेह*

आम जनता की शिक्षा (३)

स्वामी विवेकानन्द

जनोन्नयन के लिये आवश्यक है –
(१) धर्मप्रचार

व्यक्ति के समान ही इस संसार में प्रत्येक राष्ट्र को अपना मार्ग चुन लेना पड़ता है। हमने युगों पूर्व अपना पथ निर्धारित कर लिया था और हमें उसी में डटे रहना चाहिए, उसी के अनुसार चलना चाहिए। ... अत: भारत में किसी प्रकार का सुधार या उन्नति की चेष्टा करने के पहले धर्म-प्रचार जरूरी है।[३२७] जनता को शुद्धाचरण, पुरुषार्थ और परहित में श्रद्धापूर्वक लगे रहने की शिक्षा दो। यह निश्चय ही धर्म है। अपने जटिल दार्शनिक विचारों को कुछ समय के लिए किनारे रख दो। ... केवल धर्म की सार्वभौमिकता का ही उपदेश देना।[३२८] ... सर्वप्रथम, हमारे उपनिषदों, पुराणों और अन्य सब शास्त्रों में जो अपूर्व सत्य छिपे हुए हैं, उन्हें इन सब ग्रन्थों के पन्नों से बाहर निकालकर, मठों की चहारदीवारियाँ भेदकर, वनों की शून्यता से दूर लाकर, कुछ सम्प्रदाय-विशेषों के हाथों से छीनकर देश में सर्वत्र बिखेर देना होगा, ताकि ये सत्य दावानल के समान सारे देश को चारों ओर से आच्छन्न कर लें – उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सब जगह फैल जायँ – हिमालय से कन्याकुमारी और सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक सर्वत्र वे धधक उठें। सबसे पहले हमें यही करना होगा। सभी को इन शास्त्रों में निहित उपदेश सुनाने होंगे। ... धर्म-प्रचार करने के बाद उसके साथ-ही-साथ लौकिक विद्या और अन्यान्य आवश्यक विद्याएँ आप ही आ जायेंगी। पर यदि तुम बिना धर्म के लौकिक विद्या ग्रहण करना चाहो, तो मैं तुमसे साफ कहे देता हूँ कि भारत में तुम्हारा ऐसा प्रयास व्यर्थ सिद्ध होगा, वह लोगों के हृदयों में स्थान प्राप्त न कर सकेगा। ... द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शैव-सिद्धान्त, अद्वैत, वैष्णव, शाक्त, यहाँ तक कि बौद्ध और जैन आदि जितने सम्प्रदाय भारत में पैदा हुए हैं, सब इस विषय पर एकमत हैं कि इस जीवात्मा में अनन्त शक्ति अव्यक्त भाव से निहित है; चींटी से लेकर ऊँचे-से-ऊँचे सिद्ध पुरुष तक सभी में वह आत्मा विराजमान है, भेद केवल उसकी अभिव्यक्ति की मात्रा में है। उचित अवसर तथा स्थान-काल मिलते ही वह शक्ति प्रकट हो जाती है, परन्तु चाहे प्रकट हो या न हो, वह शक्ति ब्रह्मा से लेकर तिनके तक – प्रत्येक जीव में विद्यमान है। सर्वत्र जा-जाकर इस शक्ति को जगाना होगा।[३२९]
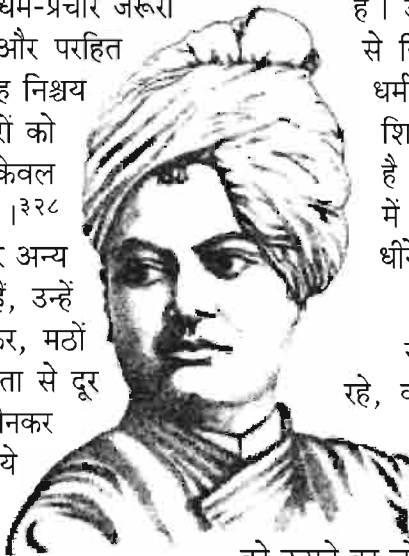
(२) शिक्षा का प्रसार

शिक्षादान हमारा पहला कार्य होना चाहिए – नैतिक तथा बौद्धिक दोनों ही प्रकार की शिक्षा। ... ताकि इसके फलस्वरूप लोग आत्मनिर्भर तथा मितव्ययी बन सकें;[३३०] बात कहने में तो बड़ी सरल है, पर इसे कार्य रूप में कैसे परिणत किया जाय? हमारे देश में हजारों नि:स्वार्थ दयालु और त्यागी पुरुष हैं। उनमें से कम-से-कम आधों को उसी तरीके से जिसमें वे बिना पारिश्रमिक लिए घूम-घूमकर धर्मशिक्षा देते हैं, अपनी आवश्यकता के अनुरूप शिक्षा देने के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है। इसके लिए पहले प्रत्येक प्रान्त की राजधानी में एक-एक केन्द्र होना चाहिए, जहाँ से धीरे-धीरे भारत के सब स्थानों में फैलना होगा।[३३१]

(३) संस्कृत-शिक्षा की उपयोगिता

साथ ही संस्कृत की भी शिक्षा अवश्य होती रहे, क्योंकि संस्कृत शब्दों की ध्वनि मात्र से ही जाति को एक तरह का गौरव, शक्ति और बल प्राप्त हो जाता है। महान् रामानुज, चैतन्य और कबीर ने देश की नीची जातियों को उठाने का जो प्रयत्न किया था, उसमें इन महान् धर्माचार्यों के अपने ही जीवन-काल में अद्‌भुत सफलता मिली थी। किन्तु उनके बाद उस कार्य का जो शोचनीय परिणाम हुआ, ... उसका कारण यह है – उन्होंने नीची जातियों को उठाया था। वे सब चाहते थे कि ये उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हो जायँ, परन्तु उन्होंने जनता में संस्कृत का प्रचार करने में अपनी शक्ति नहीं लगायी। यहाँ तक कि भगवान बुद्ध ने भी यह भूल की कि उन्होंने जनता में संस्कृत शिक्षा का अध्ययन बन्द कर दिया। वे तुरन्त फल पाने के इच्छुक थे, इसलिए उन्होंने संस्कृत से उस समय की भाषा पाली में अनुवाद करके उन विचारों का प्रचार किया। यह काम बहुत ही सुन्दर हुआ था, जनता ने उनका अभिप्राय समझा, क्योंकि वे जनता की बोलचाल की भाषा में उपदेश देते थे। यह बात बहुत ही अच्छा हुआ था, इससे उनके भाव बहुत शीघ्र फैले और बहुत दूर-दूर तक पहुँचे। किन्तु इसके साथ-साथ संस्कृत का भी प्रचार होना चाहिए था। ज्ञान का विस्तार हुआ अवश्य, पर उसके साथ-साथ 'गौरव-बोध' और 'संस्कार' नहीं बने। ... तुम संसार के सामने प्रभूत ज्ञान रख सकते हो, पर इससे उसका विशेष उपकार न होगा। संस्कार को रक्त में व्याप्त हो जाना चाहिए।[३३२]

(४) प्रचलित भाषा में शिक्षा

जनता को उसको बोलचाल की भाषा में शिक्षा दो, उसको भाव दो, वह बहुत कुछ जान जायेगी, परन्तु साथ ही कुछ और भी जरूरी है – उसे संस्कृति का बोध दो। जब तक तुम यह नहीं कर सकते, तब तक उनकी उन्नत दशा कदापि स्थायी नहीं हो सकती। ... ऐ पिछड़ी जाति के लोगो, मैं तुम्हें बतलाता हूँ कि तुम्हारे बचाव का, तुम्हारी अपनी दशा को उन्नत करने का एकमात्र उपाय है संस्कृत भाषा पढ़ना।[३३३] संस्कृत में पाण्डित्य होने से ही भारत में सम्मान मिलता है। संस्कृत भाषा का ज्ञान होने से ही कोई भी तुम्हारे विरुद्ध कुछ कहने का साहस नहीं करेगा।[३३४]

(५) घर-घर जाकर मौखिक शिक्षा देना

एक बात और है, गरीबों की शिक्षा प्राय: मौखिक रूप से ही होनी चाहिए। स्कूल आदि का अभी समय नहीं आया है। धीरे-धीरे उन मुख्य केन्द्रों में खेती, उद्योग आदि भी सिखाये जायेंगे और उद्योग आदि की उन्नति के लिए शिल्पगृह भी खोले जायँगे।[३३५] फिर यदि हम प्रत्येक गाँव में नि:शुल्क पाठशाला खोलने में समर्थ हों, तो भी गरीब लड़के उन पाठशालाओं में आने की अपेक्षा अपने जीविकोपार्जन हेतु हल चलाने जायँगे। न तो हमारे पास धन है और न हम उनको शिक्षा के लिए बुला ही सकते हैं। ... मैंने एक रास्ता ढूँढ़ निकाला है और वह यह है – यदि पहाड़ मुहम्मद के पास नहीं आता, तो मुहम्मद को पहाड़ के पास जाना होगा। यदि गरीब शिक्षा के निकट नहीं आ सकते, तो शिक्षा को ही उनके हल के पास, कारखाने में और हर जगह पहुँचाना होगा।[३३६] यदि गरीब के लड़के विद्यालयों में न आ सकें, तो उनके घर पर जाकर उन्हें शिक्षा देनी होगी। गरीब लोग इतने बेहाल है कि स्कूलों और पाठशाला में नहीं आ सकते। और कविता आदि पढ़ने से उन्हें कोई लाभ न होगा।[३३७]

सोचो, गाँव-गाँव में कितने ही संन्यासी घूमते-फिरते हैं, वे क्या करते हैं? यदि कोई नि:स्वार्थ परोपकारी संन्यासी गाँव-गाँव में विद्यादान करता फिरे और भाँति-भाँति के उपायों से – मानचित्र, कैमरा, भू-गोलक आदि के सहारे – चाण्डाल तक सबकी उन्नति के लिए घूमता फिरे, तो क्या इससे समय आने पर मंगल नहीं होगा?[३३८] अब मान लो कि ग्रामीण अपना दिन भर का काम करके अपने गाँव लौट आये हैं और किसी पेड़ के नीचे या कहीं भी बैठकर हुक्का पीते और गप्रे लड़ाते हुए समय बिता रहे हैं। मान लो दो शिक्षित संन्यासी वहाँ उन्हें स्लाइड से ग्रह-नक्षत्रों या विभिन्न देशों या ऐतिहासिक दृश्यों के चित्र उन्हें दिखाने लगें, तो इस प्रकार ग्लोब, नक्शे आदि के द्वारा जबानी ही कितना काम हो सकता है![३३९] वे गरीब पुस्तकों से जीवन भर में जितनी जानकारी न पा सकेंगे, उससे सौगुनी अधिक वे उन्हें बातचीत के माध्यम से विभिन्न देशों के बारे में कहानियों सुनाकर दे सकते हैं।[३४०]

शहरों में जहाँ गरीब-से-गरीब लोग रहते हैं, वहाँ एक मिट्टी का घर और एक हॉल बनाओ। कुछ मैजिक-लैंटर्न थोड़े-से मानचित्र, ग्लोब और रासायनिक पदार्थों को एकत्र करो। हर शाम को वहाँ गरीबों को, यहाँ तक कि चाण्डालों को भी एकत्र करो। पहले उन्हें धर्म के उपदेश दो, फिर मैजिक-लैंटर्न और दूसरी वस्तुओं के सहारे बोलचाल की भाषा में ज्योतिष, भूगोल आदि सिखाओ। तेजस्वी युवकों का दल गठन करो और अपनी उत्साहाग्नि उनमें प्रज्वलित करो।[३४१] केवल आँख ही ज्ञान का एकमात्र द्वार नहीं है, कान से भी यह काम हो सकता है। इस प्रकार नये-नये विचारों से, नीति से उनका परिचय होगा और वे उन्नततर जीवन की आशा करने लगेंगे। यहाँ हमारा काम खत्म हो जाता है, बाकी उन्हीं पर छोड़ देना होगा।[३४२]

यदि वंशानुक्रम के आधार पर शुद्रों की अपेक्षा ब्राह्मण आसानी से विद्याभ्यास कर सकते हैं, तो उनकी शिक्षा पर धन व्यय करना छोड़कर शूद्र लोगों को शिक्षित बनाने पर वह सारा धन व्यय करो। दुर्बलों की सहायता पहले करो, क्योंकि उनको हर प्रकार की सहायता की आवश्यकता है। यदि ब्राह्मण जन्म से ही बुद्धिमान होते हैं, तो वे किसी की सहायता बिना ही शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। यदि बाकी लोग जन्म से ही बुद्धिमान नहीं हैं, तो उनके लिये उचित शिक्षा तथा शिक्षक की व्यवस्था करो।[३४३]

(६) सामाजिक अत्याचार का उन्मूलन

सबसे बड़ी बात तो यह है कि हमें गरीबों पर अत्याचार एकदम बन्द कर देना चाहिए। हम किस हास्यास्पद दशा में पहुँच गये हैं! यदि कोई भंगी हमारे पास भंगी के रूप में आता है, तो हम छुतही बीमारी की तरह उसके स्पर्श से दूर भागते हैं। पर जब कोई पादरी उसके सिर पर एक कटोरा पानी डालकर प्रार्थना के रूप में कुछ गुनगुना देता है और जब उसे पहनने को ऐक कोट मिल जाता है – चाहे वह कितना भी फटा-पुराना क्यों न हो – तब यदि वह किसी कट्टर-से-कट्टर हिन्दू के कमरे में पहुँच जाय, तो उसके लिए कोई रोक-टोक नहीं है; ऐसा कोई नहीं, जो उससे सप्रेम हाथ मिलाकर बैठने के लिए कुर्सी न दे! इससे अधिक विडम्बना की बात क्या हो सकती है![३४४] समाज की यह अवस्था दूर करनी होगी, पर धर्म का नाश करके नहीं, वरन् हिन्दू धर्म के महान् उपदेशों पर चलकर और उसके साथ हिन्दू धर्म के स्वाभाविक विकास बौद्ध धर्म की अपूर्व सहृदयता को जोड़कर।

लाखों स्त्री-पुरुष पवित्रता के अग्निमन्त्र से दीक्षित होकर, ईश्वर के प्रति अटल विश्वास से शक्तिमान बनकर और गरीबों,

पतितों तथा पददलितों के प्रति सहानुभूति से सिंह के समान साहसी बनकर इस सम्पूर्ण भारत देश के एक छोर से दूसरे छोर तक सर्वत्र उद्धार के सन्देश, सेवा के सन्देश, समाजिक उत्थान के सन्देश और समानता के सन्देश का प्रचार करते हुए विचरण करेंगे।[३४५] भारत के इन दीन-हीन लोगों को, इन पददलित-जनों को, उनका अपना वास्तविक स्वरूप समझा देना परम आवश्यक है। जात-पाँत का भेद छोड़कर, कमजोर और मजबूत का विचार छोड़कर, हर स्त्री-पुरुष को, प्रत्येक बालक-बालिका को ,यह सन्देश सुनाओ और सिखाओ कि ऊँच-नीच, अमीर-गरीब और बड़े-छोटे सभी में उसी एक अनन्त आत्मा का निवास है, जो सर्वव्यापी है; इसलिए सभी लोग महान् तथा सभी साधु हो सकते हैं। आओ हम सबके समक्ष घोषित करें – **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत** (कठोपनिषद, १/३/१४) – "उठो, जागो और जब तक अपने अन्तिम लक्ष्य तक नहीं पहुँच जाते, तब तक चैन न लो।" उठो, जागो, निर्बलता के इस व्यामोह से जागो। वस्तुत: कोई भी दुर्बल नहीं है। आत्मा अनन्त, सर्व-शक्ति-सम्पन्न और सर्वज्ञ है। इसलिए उठो और अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट करो। तुम्हारे अन्दर जो भगवान हैं, उनकी सत्ता को उच्च स्वर में घोषित करो, उन्हें अस्वीकार मत करो।[३४६]

(७) आत्म-विश्वास बढ़ाओ

इस शक्ति को प्राप्त करने का पहला उपाय है – उपनिषदों पर विश्वास करना और इस बात पर विश्वास करना कि – "मैं आत्मा हूँ। मुझे न तो तलवार काट सकती है, न बरछी छेद सकती है, न आग जला सकती है और न हवा सुखा सकती है, मैं सर्वशक्तिमान हूँ, सर्वज्ञ हूँ।" सर्वदा इन आशाप्रद और परित्राणप्रद वाक्यों का उच्चारण करो। मत कहो – हम दुर्बल हैं। हम सब कुछ कर सकते हैं। हम क्या नहीं कर सकते? हमसे सब कुछ हो सकता है। हम सबके भीतर एक ही महिमामय आत्मा है। हमें इस पर विश्वास करना होगा। नचिकेता के समान श्रद्धाशील बनो। नचिकेता के भीतर श्रद्धा का प्रवेश हुआ था। मेरी इच्छा है कि तुम लोगों के भीतर इसी श्रद्धा का आविर्भाव हो, तुममें से हर व्यक्ति खड़ा होकर संकेत मात्र से संसार को हिला देनेवाला प्रतिभासम्पन्न महापुरुष हो, हर तरह से अनन्त ईश्वरतुल्य हो। मैं तुम लोगों को ऐसा ही देखना चाहता हूँ। उपनिषदों से तुमको ऐसी ही शक्ति प्राप्त होगी और वहीं से तुमको ऐसा विश्वास प्राप्त होगा।[३४७]

तुम कोई भी कार्य क्यों न करो, तुम्हारे लिए वेदान्त की आवश्यकता है। वेदान्त के इन सब महान् तत्त्वों का प्रचार आवश्यक है, ये केवल जंगल में या गिरि-गुहाओं में आबद्ध नहीं रहेंगे; वकिलों और न्यायाधीशों में, प्रार्थना-गृहों में, गरीबों की कुटीरों में, मछुआरों के घरों में, छात्रों के अध्ययन-कक्षों में – सर्वत्र ही इन तत्त्वों की चर्चा होगी और ये काम में लाये जायेंगे। हर व्यक्ति, हर बालक-बालिका, चाहे जो भी कार्य करे, चाहे जिस अवस्था में हो – उनकी पुकार सबके लिए है। भय का अब कोई कारण नहीं है। उपनिषदों के सिद्धान्तों को मछुए आदि साधारण जन किस प्रकार काम में लायेंगे? इसका उपाय शास्त्रों में बताया गया है। मार्ग अनन्त है, धर्म अनन्त है, कोई इसकी सीमा के बाहर नहीं जा सकता। ... मछुआ यदि स्वयं को आत्मा के रूप में सोचे, तो वह एक उत्तम मछुआ होगा। विद्यार्थी यदि अपने को आत्मा समझे, तो वह एक श्रेष्ठ विद्यार्थी होगा। वकील यदि अपने को आत्मा समझे, तो वह एक अच्छा वकील होगा। औरों के विषय में भी ऐसा ही समझो।[३४८]

सन्दर्भ-सूची –

३२७. विवेकानन्द साहित्य, (१९८९) खण्ड ५, पृ. ११६; **३२८**. वही, खण्ड ६, पृ. ३७८; **३२९**. वही, खण्ड ५, पृ. ११६, ११८, खण्ड ६, पृ. ३१२; **३३०**. वही, खण्ड ६, पृ. ३५०-५१; **३३१**. वही, खण्ड ६, पृ. ३१२-१३; **३३२**. खण्ड ५, पृ. १८४; **३३३**. वही, खण्ड ५, पृ. १८४-८५; **३३४**. वही, खण्ड ५, पृ. १९१; **३३५**. वही, खण्ड ६, पृ. ३१३; **३३६**. वही, खण्ड २, पृ. ३६६; **३३७**. वही, खण्ड २, पृ. ३३८; **३३८**. वही, खण्ड २, पृ. ३३८; **३३९**. वही, खण्ड २, पृ. ३६६; **३४०**. वही, खण्ड २, पृ. ३७०; **३४१**. वही, खण्ड २, पृ. ३५७; **३४२**. वही, खण्ड २, पृ. ३६६; **३४३**. वही, खण्ड ५, पृ. ८९; **३४४**. वही, खण्ड १, पृ. ३८५; **३४५**. वही, खण्ड १, पृ. ४०३; **३४६**. वही, खण्ड ५, पृ. ८९; **३४७**. वही, खण्ड ५, पृ. १३९; **३४८**. वही, खण्ड ५, पृ. १४०;

❖ **(क्रमश:)** ❖

मन को ज्ञानाग्नि में पका लो

यदि कच्ची मिट्टी की हण्डी फूट जाये, तो कुम्हार उस मिट्टी से फिर नई हण्डी बना सकता है, परन्तु पकी हुई हण्डी के फूट जाने पर ऐसा नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार अज्ञान-अवस्था में मृत्यु होने से मनुष्य को फिर जन्म लेना पड़ता है, परन्तु ज्ञानाग्नि में अच्छी तरह पक जाने के बाद यदि मृत्यु हो, तो उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

– *श्रीरामकृष्ण*

दया के मिसाल

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

बचपन में दया की अनेकों कहानियाँ पढ़ी हैं। उस समय ये कथाएँ मन पर भारी प्रभाव डालती थीं। राजा शिबि की दया का उदाहरण तो माँ के दूध के साथ मिला था कि कैसे वे एक सामान्य कबूतर को बचाने के लिए अपने समूचे शरीर का मांस ही बाज को देने के लिये तैयार हो गये थे। कैसे दधीचि ने देवताओं पर दया करते हुए अपनी हड्डियाँ देने के निमित्त अपने जीवन की ही आहुति दे दी थी। ये कथाएँ बाल-मन का रंजन ही नहीं करती थीं, बल्कि उसमें आदर्शवादिता भी भरती थीं।

जैसे-जैसे आयु बढ़ने लगी, ऐसी कथाओं के इतिहास पर संशय होने लगा। मन में प्रश्न उठने लगे कि क्या किसी व्यक्ति में दया की इतनी मात्रा हो सकती है कि दूसरे के प्राणों की रक्षा में अपने प्राणों का होम कर दे? मन के किसी कोने से आवाज उठती कि क्या आज भी सैनिक अपने देशवासियों के प्राणों की रक्षा के लिए अपने प्राण नहीं होम कर देते? इसका उत्तर बुद्धि देती कि सैनिक अपने कर्तव्य से बँधा रहता है, उसके सामने चुनाव का कोई प्रश्न नहीं रहता; जबकि शिबि या दधीचि किसी कर्त्तव्य से बँधे नहीं थे। वे कपोत या देवताओं के अनुरोध को अस्वीकार करने में स्वतंत्र थे, तो भी वैसा न कर, वे अपने प्राण देने हेतु तैयार हो गये – यह दया की अद्वितीय मिसाल है। फिर संशय उठता कि क्या ये मिसाल वास्तविक हैं या महज पुराण-कथा है? मन जब संशय के दोलन में झूल रहा था, तभी दो ऐसे उदाहरण पढ़ने को मिले, जिसने मेरा नजरिया ही बदल दिया।

पहला था अब्राहम लिंकन का, जो गणतंत्रनिष्ठ अमेरिका के पहले राष्ट्रपति थे। वे एक जरूरी बैठक में भाग लेने स्वयं अपनी गाड़ी चलाकर जा रहे थे। सहसा उन्होंने एक आर्तनाद सुना। देखा कि शूकर का एक बच्चा बाजू के दलदल में फँस गया है और निकलने के लिए जितना छटपटा रहा है, उतना ही दलदल में धँसता जा रहा है। उन्होंने गाड़ी रोकी, आस्तीन चढ़ायी, पैंट को नीचे से मोड़ा और दलदल में उस शूकर-शावक को बचाने घुस पड़े। दलदल भयानक थी, उनके अपने धँस जाने का भय था, पर उन्होंने अपने प्राणों की परवाह न कर, शूकर के बच्चे को दलदल से निकालकर किनारे पर रख दिया। उनके सारे कपड़े कीचड़ से लथपथ हो गये। यदि कपड़े बदलने जाते, तो बैठक में देर हो जाती, अतएव वैसे ही बैठक में पहुँचे। उन्हें उस दशा में देख लोगों को डर हुआ कि कहीं कोई दुर्घटना तो नहीं हो गयी। लिंकन ने सारी घटना संक्षेप में बतलायी। लोग दाद देने लगे कि आप कितने दयालु हैं, आदि आदि। लिंकन ने कहा कि मैंने कोई दयावश यह कार्य नहीं किया। उस शूकर के बच्चे की दुरवस्था देख मुझे पीड़ा होने लगी और सच पूछो तो मैंने अपनी उस पीड़ा को दूर करने हेतु ही ऐसा किया, उसमें दया की कोई बात नहीं थी।

दूसरा उदाहरण महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त एकनाथ का है। पैठण से हरिद्वार जाकर उनके साथियों का दल काँवर पर गंगा-जल लेकर रामेश्वर जा रहा था। विजयवाड़ा का चतुर्दिक क्षेत्र तीन वर्षों से अनावृष्टि से पीड़ित था। जल ले जाने वाले काफिले ने रास्ते में कई पशुओं को जलाभाव में मृत देखा। एक गधा भी छटपटा रहा था। एकनाथ से न रहा गया। वे अपना जल का पात्र ले गदहे के पास आये और धीरे-धीरे सारा जल गदहे के मुँह में ढाल दिया। गधे को चैतन्य हुआ और वह उठकर एक ओर चला गया। एकनाथ को बड़ी प्रसन्नता हुई। मित्रों ने कहा, ''एकनाथ, तुमने तो सारा जल ही गधे को पिला दिया, अब भगवान् रामेश्वर शिव का अभिषेक कैसे करोगे?'' - ''क्यों?'' एकनाथ ने भोलेपन से पूछा, ''क्या तुम लोग अपने पास का जल नहीं दोगे?'' ''सो तो देंगे, एकनाथ'' - मित्र बोले, ''पर पुण्य तो हरिद्वार से स्वयं अपने द्वारा लाये जल से अभिषेक करने में विशेष होता है।''

''क्या करूँ'', एकनाथ लाचारी के स्वर में बोले, ''मैं भी तो तुम लोगों के साथ ही चला जा रहा था। जब मेरी दृष्टि उस मुमूर्ष गधे पर पड़ी, तो मैंने देखा, सहसा भगवान रामेश्वर शिव उसकी देह में से प्रकट हो गये और मुझसे शिकायत के स्वर में कहने लगे, 'अरे, मैं यहाँ प्यास के मारे छटपटाकर मर रहा हूँ और तुम मुझे नहलाने जल रामेश्वर ले जा रहे हो!' भला मैं तब क्या करता, सारा जल ही उस गधे को पिला दिया!'' यह दया की दूसरी मिसाल है। दया पर लम्बे-लम्बे भाषणों और विवेचनों की अपेक्षा इन दो घटनाओं ने मुझे दया के सम्बन्ध में अधिक जानकारी दी तथा एक अभिनव दृष्टि प्रदान की। ❑

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (६/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

व्यक्ति जब अपनी बुद्धि के प्रति व्यर्थ की महत्त्व-बुद्धि को छोड़कर प्रभु के समक्ष नत होता है, तो स्वाभाविक रूप से ही उस अभाव में उसे प्रभु की कृपा की अनुभूति होने लगती है। इसीलिये व्यक्ति यदि उस कृपा को पाना चाहता है, तो उसके लिये बताये गये विविध प्रकार के साधन ही वस्तुत: उसके साध्य भी हैं। अत: श्रोता यदि उस स्थिति में पहुँचा हुआ न भी हो, तो भगवान की कथा श्रवण करना ही उसके लिये साध्य-स्वरूप है। वक्ता जब भगवान की कथा कहता है, तो यदि वह अपने पाण्डित्य से कोई बात कहे, तो वह युक्तिसंगत होगी, बुद्धि को संगत प्रतीत होगी, परन्तु वह स्वयं उस कृपा का अनुभव नहीं कर पा सकेगा।

एक बार काशी के एक विद्वान् ने मुझसे प्रश्न किया – "अच्छा, इतने ग्रन्थों का अध्ययन तुमने कब किया? कितने दिनों में किया? लगता है कि सारे ग्रन्थों का तुमने प्रणयन किया है।" मैं बोला – "नहीं महाराज, मैंने ऐसा कोई अध्ययन नहीं किया।" – "तो सारे शास्त्र-पुराणों के इतने विषय तुम बोलते हो, यह सब क्या है?" मैंने कहा – "वह तो प्रभु की कृपा है।" रुष्ट हो गये। बोले – "कृपा करने के लिये तुम्हीं रह गये थे। हम इतने शास्त्रों के विद्वान् हैं, इतना अध्ययन किया, मगर प्रभु तुम्हीं पर कृपा क्यों कर रहे हैं? हम पर क्यों नहीं?" मैंने कहा – "आप विद्वान् हैं और मैं मूर्ख था, इसीलिये कृपा कर दी। मेरे पास नहीं था, इसीलिये उन्होंने दिया। आपके पास है, तो प्रभु ने सोचा होगा – है तो बहुत अच्छी बात है।"

गोस्वामीजी के पिता बड़े कट्टर ज्योतिषी थे। आज भी अनेक लोग ज्योतिष के बड़े अन्धानुयायी होते हैं, अविवेक की सीमा तक अनुयायी होते हैं। तो उनके पिता भी उसी कोटि में थे। बालक का जन्म हुआ, तो पहला काम उन्होंने यही किया कि बालक की कुण्डली बनाई। और वह भी बच्चे के भविष्य के लिये नहीं, बल्कि उन्होंने देखा कि बच्चे का जन्म मेरे लिये कैसा है? चिन्ता उन्हें जन्मपत्री में पिता के स्थान की है। देखा – अरे, यह लड़का तो मुझे ही खा जायेगा। मैं मर जाऊँगा, देखा – माँ मर जायेगी। तत्काल बोले – इस लड़के को घर से बाहर करो। किसी को दे दो। बड़ा ही अशुभ पुत्र है, अभुक्त मूल में जन्मा है। गोस्वामीजी को इतने कठोर पिता मिले। उन्होंने लिखा – मैं तो इतना अभागा था कि जन्म लेते ही माता-पिता ने छोड़ दिया –

मातु-पिताँ जग जाइ तज्यो ।। कविता. ७/५७/१

पर छोड़ देने से तो उनके माता-पिता मृत्यु से बचे नहीं। पिता की मृत्यु हो गई, माँ की भी मृत्यु हो गई। जिस दासी ने उनका पालन किया, उसकी भी मृत्यु हो गई। प्रमाणित हो गया कि यह बच्चा बड़ा ही अशुभ है। इसीलिये जब गोस्वामीजी छोटे बालक थे, तो किसी दरवाजे पर भिक्षा माँगने जाने पर गृहस्वामी देखते ही घबरा जाते कि यह अशुभ लड़का सबेरे-सबेरे दिखाई दे गया, न जाने दिन कैसे बीतेगा! यह दशा थी। उन्होंने इतनी दुर्दशा भोगी और बाद में एक दिन ऐसा भी आया कि जब गोस्वामीजी के द्वार पर राजा-महाराजा, न जाने कितने समृद्ध लोग हाथ जोड़े खड़े रहते थे – "महाराज, एक बार कृपा दृष्टि कर दीजिये, हमारा सारा अमंगल, अभाग्य दूर हो जाय।" तब उनके भक्तों ने कहा – "आपके पिताजी को ज्योतिष का ज्ञान होता, तो क्या वे नहीं जानते कि आप कितने बड़े महापुरुष हैं? आप संसार को क्या देने आये हैं?" गोस्वामीजी कह सकते थे – "हाँ, वे अच्छे ज्योतिषी नहीं थे।"

ज्योतिषियों के पास बड़ा अच्छा उत्तर रहता है। यदि कोई बात न घटे, तो कह दिया – गणित में भूल हो गयी। पर गोस्वामीजी ने बड़े भावपूर्ण भाषा में कहा – "उनका गणित बिल्कुल ठीक था।" इसका वर्णन कवितावली रामायण में है। किसी ने उनसे पूछा – "महाराज, जब आप बालक थे, तो मोटे थे या दुबले?" बोले – "मोटा भी था और दुबला भी।" – "दोनों एक साथ कैसे थे?" बोले – "मेरी स्थिति ऐसी थी कि घर में कोई कुछ देनेवाला था ही नहीं। वस्त्र भी नहीं थे। चीथड़े लपेटकर, हाथ में मिट्टी का सकोरा लेकर मैं द्वार-द्वार भीख माँगता था। लोग कहते – बड़ा अभागा है –

पातक-पीन कुदारिद-दीन
मलीन धरैं कथरी करवा है ।। कविता. ७/५६

ऐसी मान्यता है कि ब्रह्मा हर व्यक्ति के सिर पर उसका भाग्य लिख देते हैं। गोस्वामीजी ने कहा – "ब्रह्मा ने जब मेरे

भाग्य को लिखने का संकल्प किया, तो वे अपने मन से नहीं लिखते हैं, पाप-पुण्य का खाता देखकर लिखते हैं। उन्होंने कहा – इसके जितने पुण्य के खाते हैं, सब ले आओ, बच्चा जन्म लेने जा रहा है। बताया – महाराज, एक भी नहीं है। – अच्छा ! तो पाप तो किये होंगे, पाप के खाते लाओ। गोस्वामीजी कहते हैं – जब मेरे पाप के खाते आने लगे, तो हजार, दो हजार खाते आये, खतम होने का नाम ही नहीं। ब्रह्माजी घबरा गये। कितना है भई? बोले – महाराज, अभी तो भरा पड़ा है। ब्रह्मा को लगा कि मैं इसका भाग्य कैसे लिखूँ? इसने तो एक भी पुण्य नहीं किया। और पाप के बुरे फल भी कैसे लिखूँ? अनादि काल से इसके इतने अनन्त पाप हैं ! इसके इस छोटे-से सिर में समायेगा कहाँ? इसीलिये उन्होंने मेरा सिर कोरा ही छोड़ दिया। न भला लिखा, न बुरा लिखा। फिर संयोग ऐसा हुआ कि जब मैंने गुरुदेव के माध्यम से शरणागति ग्रहण की और प्रभु के चरणों में प्रणाम किया, उसी समय प्रभु को लिखने के लिये कोरे कागज की आवश्यकता हुई। उन्होंने ज्योंही मेरा सिर कोरा देखा, तो बोले – इसी पर लिख देंगे। और यह जो मेरे सिर पर लिखा हुआ है, वह ज्योतिष या ब्रह्मा का लिखा हुआ नहीं है; यह तो प्रभु का लिखा हुआ है।''

अन्य वस्तुओं को लिखने के लिये तो पुण्य की जरूरत है, पर कृपा तो तभी लिखी जायेगी, जब अभाव हो। कृपा अभाव में ही की जाती है। किसी में यदि विशेषता है, तो सम्मान करेंगे, पर कृपा तो सदा दीन-हीन पर होगी। गोस्वामीजी ने उसका स्मरण करते हुये कहा – लोग तक कहते थे कि स्वप्न में भी मेरे जीवन में कुछ नहीं था –

लोकु कहै बिधिहूँ न लिख्यो
सपनेहूँ नहीं अपने बर बाहै ।। वही, ७/५६/२

पर आज क्या हुआ? – वही तुलसी राम के दास के रूप में, राम के किंकर के रूप में संसार में प्रसिद्ध हो रहा है –

राम को किंकरु सो तुलसी ।।

इसे पढ़कर एक सज्जन बोले – यह आपने बनाई है क्या? इसमें आपका नाम कहाँ से आ गया? मैंने कहा – ''नहीं, नहीं, मैंने नहीं बनाया। और वह तो भावना की बात होती है।'' देखनेवाले ने सोचा कि शायद इन्होंने अपने लिये बना लिया हो। और कलकत्ते में एक ने तो कह दिया कि तुलसीदासजी लिख गये हैं कि जो रामकिंकर होगा, वह मैं ही होऊँगा। इन दोनों भावों में विनोद या द्वेष की बातें हैं। तो गोस्वामीजी स्वयं को राम का किंकर कहते हैं। – तुलसी आज राम के दास के रूप में प्रसिद्ध है, वह क्यों है? बोले – यह समझने की वस्तु है – इसे कहा नहीं जा सकता –

राम को किंकरु सो तुलसी
समुझेंहि भलो कहिबो न रवा है । वही, ७/५६/३

– अरे महाराज, तो भी श्रीराम जी ने आप के ऊपर इतनी कृपा कर दी? गोस्वामीजी ने तत्काल कहा –

ऐसे को ऐसो भयो कबहुँ
न भजे बिनु बानरके चरवाहै ।। वही, ७/५६/४

– भाई, तुम तो जानते ही हो कि प्रभु ने बन्दरों को अपनी सेना में रख लिया और कृपा करके ही रख लिया। वे चाहते तो अयोध्या से सेना बुला सकते थे, पर बन्दर तो सारे दोषों से युक्त हैं। बन्दरों की सेना एकत्र करनेवाले प्रभु ने देखा कि इस तुलसी में कोई गुण तो है ही नहीं, सारे दोष-ही-दोष हैं, तो इसको भी अपनी सेना में ले लो।

बन्दर को जब कोई प्रेम करता है, तो बन्दर उसे कुछ नहीं देता। यह प्राणी बड़ा विचित्र है ! कभी बन्दरों से आपका पाला पड़े, तो समझ जायेंगे। यदि आप उसे मिठाई देने की चेष्टा करें, तो वह बड़ी क्रोधभरी दृष्टि से आपकी ओर देखेगा और झपट्टा मारकर आपसे मिठाई ले लेगा। ऐसी उसकी प्रकृति है ! गोस्वामीजी कहते हैं कि प्रभु ही इतने कृपालु हैं कि उन्होंने समझ लिया कि इसमें कोई विशेष गुण नहीं है, इसे तो इसी रूप में बानर जैसा ही रखना होगा और उस बन्दरों के चरवाहे ने मुझे भी अपना लिया। अब गणितज्ञ की समस्या यह है कि वह जानता है कि बाजार में हर वस्तु की कीमत है। जो बेचता है, वह गणित करके बेचता है – कितने में लिया है, कितना लाभ लेना है। और जो लेने जाता है, वह भी गणित कर लेता है कि यह चीज इतने में मिलनी चाहिये। लेकिन कृपा का तो गणित ही अलग है !

जब लंका का युद्ध समाप्त हुआ, तो वहाँ के रणांगण में बन्दर और राक्षस दोनों मरे थे। इन्द्र ने प्रभु से निवेदन किया – प्रभो, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? प्रभु बोले – तुम अमृत की वर्षा करो। इन्द्र ने अमृत-वर्षा की। सारे बन्दर जीवित हो गये, परन्तु राक्षस एक भी जीवित नहीं हुए। पार्वतीजी बोलीं – बहुत अच्छा हुआ, जो दुष्ट राक्षस नहीं जीवित हुए। भगवान शंकर ने कहा – जीवित तो नहीं हुए, पर वे मरकर नरक में भी नहीं पहुँचे। – तो फिर राक्षस गये कहाँ? बोले – भगवान ने उन्हें अपने धाम में भेज दिया। – महाराज, ऐसा क्यों? उन्होंने इन दुष्टों को अपने धाम में क्यों भेज दिया? भगवान राम ने कहा – भाई, मैं भक्तों को मुक्ति देता हूँ और ये राक्षस वैरभाव से मेरी याद करते थे, इसीलिये –

बैर भाव सुमिरहि मोहि निसिचर ।

किसी ने प्रभु का चरण पकड़ कर कहा – वैर रखना भाव है या कुभाव? दास हो, मित्र हो, तो समझें कि भाव है। सारे ग्रन्थों में पाँच ही भाव लिखे हुए हैं। छठवाँ भाव कहीं भी नहीं है और आप वैर-भाव की बात कह रहे हैं ! यह किस शास्त्र में लिखा है? प्रभु ने कहा – और कहीं तो नहीं, परन्तु यह मेरे कृपा-शास्त्र में लिखा है। वैर भाव से ही सही,

पर वे लोग इतने तन्मय होकर मेरी स्मृति में ही तो डूबे रहते थे। इसका अभिप्राय है कि प्रभु की कृपा किसी तर्क और गणित से सिद्ध होनेवाली वस्तु नहीं है। वे तो अपने स्वभाव से ही करुणामय हैं और इसी कारण कृपा करते रहते हैं –

जब कब निज करुना-सुभाव तें। विनय १८६

इसीलिये भगवान की कथा को सुनकर यदि आप इससे व्यावहारिक शिक्षा लेना चाहें कि कैसे बोलना चाहिये, कैसे चलना चाहिये, कैसे हँसना चाहिये, तो वह भी ठीक है। प्रभु के चरित्र में यह भी मिलेगा – कैसे बोलते हैं, कैसे देखते हैं, कैसे चलते हैं! श्रीराम का बोलना इतना मधुर, इतना रसमय है कि शत्रु भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। उनकी वाणी सुनकर विरोध की भावना भी दूर हो जाती है। स्वयं महाराज दशरथ ने भी गुरु वशिष्ठ से निवेदन किया था – महाराज, अयोध्या में कई तरह के लोग हैं, कुछ मुझसे स्नेह करते हैं, कुछ मुझसे विरोध मानते हैं और कुछ हमसे उदासीन हैं, पर मेरे पुत्र के रूप में यह जो किशोर है, इसकी विशेषता यह है यह जैसा मुझे वैसा ही सबको प्रिय है –

जे हमरे अरि मित्र उदासी ।।
सबहि रामु प्रिय जेहि बिधि मोही। २/३/२-३

तो आप प्रभु से सीखें कि कब, कहाँ और कैसे हँसना चाहिये। व्यवहार में रहनेवाले व्यक्ति बहुधा यह नहीं जानते कि हँसे तो कैसे हँसें। ऐसा हँसेंगे कि पूरा कमरा हिला देंगे और लोगों को घबराहट में डाल देंगे। तो यदि आप वह भी सीखना चाहें, तो भगवान से बढ़कर अन्य कोई आपको नहीं मिलेगा। उसकी तो यह विशेषता है कि परशुरामजी, जिन्होंने पहले यह कहा कि धनुष तोड़नेवाले का मैं सिर काट लूँगा, वे ही श्रीरामभद्र के गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं –

जय रघुबंस बनज बन भानू।
गहन दनुज कुल दहन कृसानू ।। १/२८५/१

– राम, मैंने तुमसे लड़ने के लिये कहा, पर जब तुम नहीं लड़े, तो मुझे लगा कि यह कैसा क्षत्रिय है, जो चुनौती देने पर भी नहीं लड़ता है। पर अब मैं समझ गया कि जो क्षत्रिय लड़ा करते थे, उनकी और तुम्हारी लड़ाई में भेद है। तुमने न केवल लड़ाई लड़ी, बल्कि हरा भी दिया। किसको? – मेरे अन्तःकरण में मद आया था, मोह आया था, भ्रम आया था, उन सबको नष्ट करके तुमने कितनी बड़ी लड़ाई जीत ली –

जय मद मोह कोह भ्रम हारी ।। १/२८५/२

और फिर यही कहा – कैसा तुममें विनय है, कैसा तुममें शील है, कैसी करुणा है! बड़ों से विनय, छोटों पर करुणा और बराबरी वालों से शील, तुम्हारी वाक्य-रचना इतनी विलक्षण है कि मैं तो चकित हो जाता हूँ –

बिनय सील करुना गुन सागर।
जयति बचन रचना अति नागर ।। १/२८५/३

अतः जो लोग सामाजिक चरित्र के निर्माण की आशा रखते हैं, उन्हें भी विश्व के इतिहास में भगवान राम जैसा कोई चरित्र नहीं मिलेगा। और जो लोग तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि से, वेदान्त के माध्यम से भगवान के स्वरूप को समझना चाहते हैं, उन्हें भी उनमें ब्रह्म की असीमता, अनन्तता, सगुण की अगुणता दिखायी देगी –

वेदान्त-वेद्यं विभुम् ।। ५/१/श्लोक
ग्यान-गम्य जय रघुराई। १/२११/छन्द

समयाभाव से इस पर चर्चा करना सम्भव नहीं है। पर श्रीराम की विलक्षणता यही है कि वे सगुण होते हुये भी निरन्तर अगुण बने रहते हैं। इसके लिये गोस्वामीजी ने रंगमंच पर अभिनय करनेवाले अभिनेता का दृष्टान्त दिया, जो अभिनय करता हुआ भी, जब अभिनय करे तो पूरी तरह से तन्मय होकर करे, पर इस सत्य को समझता रहे कि वस्तुतः मैं यह नहीं हूँ। इसीलिये – निर्गुण को समझना सरल है और सगुण कठिन है –

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोई। ७/७३

सगुण को समझना इसलिये कठिन है, क्योंकि ब्रह्म जब रूप धारण करेगा, तो उसमें रोने-हँसने का और जीत-हार का भी तो वर्णन आ जायेगा। एक सज्जन बड़े प्रसिद्ध क्रान्तिकारी विचारक माने जाते थे। एक दिन मैंने उनका कैसेट सुना। उसमें उन्होंने कहा था – जब हम सुनते हैं कि श्रीकृष्ण युद्ध में हारने के बाद मथुरा छोड़कर भाग गये और इसीलिये भक्त लोग उन्हें 'रणछोड़' कहते हैं, तो मुझे लज्जा आती है कि जो ईश्वर मैदान छोड़कर भाग गया, वह ईश्वर है क्या?

आप देखेंगे, भगवान के अनेक नामों में रणछोड़ भी एक है। और विशेषकर गुजरात प्रान्त में तो यह नाम आपको बड़ा लोकप्रिय मिलेगा। एक सज्जन ने पूछा – गुजरात के लोगों को यह रणछोड़ नाम इतना पसन्द क्यों है? मैंने कहा – भगवान तो मथुरा में थे। रणछोड़ बने, तभी तो गुजरात पहुँचे, इसीलिये उन लोगों को यही अच्छा लगता है कि रण से नहीं भागते, तो गुजरात कैसे आते? वह प्रसिद्ध विचारक समझ नहीं पाया और उसने बस यही देखा कि श्रीकृष्ण रण से भाग गये। अन्त में उसे स्वयं भी भागना ही पड़ा था।

भगवान के भागने का क्या अर्थ आप लेते हैं? भगवान के हँसने-रोने का आप क्या अर्थ लेते हैं? इसका उत्तर यह है – अभिनेता रो रहा है, अभिनेता कोई चेष्टा कर रहा है और आप घोषणा करें कि मैंने कल देखा था, यह तो ऐसा व्यक्ति है। मंच पर यदि उसके चरित्र में कोई प्रतिकूल घटना दिखाई दे और आप कहें कि वह तो ऐसा है, मैंने अपनी आँख से देखा और यदि वह अभिनेता भी मानने लगे कि सचमुच मैं वैसा हूँ, तो इससे कैसा अनर्थ होगा! इसीलिये सगुण यदि स्वयं को सगुण मान लेगा, तो फँसेगा। देखनेवाला भी यदि

उसे सगुण मानेगा, तो भ्रमित होगा। इसीलिये लिखा है कि वह ब्रह्म निरन्तर सगुण रहते हुये भी स्वयं में अगुण है –

सुगम अगम नाना चरित ।।

कितनी अच्छी बात है ! मान लीजिये आप नाट्य-मंच पर हरिश्चन्द्र बनाये गये और हरिश्चन्द्र बनकर आपने इतना बड़ा दान दे दिया। यदि आप सचमुच समझ बैठे कि मैं हरिश्चन्द्र हूँ तो आपकी बड़ी दुर्दशा होगी। आपके सामने माँगनेवालों की भीड़ लग जायेगी कि हरिश्चन्द्रजी, आपने तो कल राज्य ही दे दिया था, मुझे तो बस हजार रुपये ही दे दीजिये। तो फिर आपके सामने कितना बड़ा संकट आ जायेगा ! या फिर देखनेवाला यदि सोचे कि ये तो महान् दानी हैं और पता लगाता हुआ दूसरे दिन पहुँच जाय। पूछे कि वे हरिश्चन्द्रजी कहाँ हैं, जो कल नाटक में अपना सब कुछ दान कर रहे थे। तब आप क्या कहेंगे? – वे तो कल नाटक समाप्त होते ही चले गये। – अच्छा, तो फिर कब आयेंगे? – अगले साल जब फिर हरिश्चचन्द्र नाटक होगा, तब आयेंगे।

तो बुद्धिमान जानता है कि हमने यह अभिनय स्वीकार किया है। गोस्वामीजी कहते हैं – जैसे कोई नट तरह-तरह के वेष धारण करके नृत्य करता है और उस-उस वेष के अनुकूल हाव-भाव दिखाता है, परन्तु उसका उन भावों के साथ तादात्म्य नहीं होता। वह निर्लिप्त होता है, वैसे ही ब्रह्म भी नररूप धारण करके तदनुरूप आचरण करता है –

जथा अनेक बेस धरि नृत्य करइ नट कोइ ।
सोइ सोइ भाव देखावई आपुन होइ न सोइ ।।७/७२

यदि कोई निर्गुण ब्रह्म की इस सगुणता का तत्त्व समझना चाहे, तो इसके लिये श्रीराम के चरित्र से बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं है। और सगुण में अगुणता का दर्शन भी जैसा भगवान राम के चरित्र में मिलेगा, वैसा अन्यत्र नहीं मिलेगा। जब आप भक्तिरस की दृष्टि से विचार करके देखेंगे, तो वे पग-पग पर कितने ही भक्तों पर कृपा करते दिखाई देते हैं। सबरी जब भगवान से कहती हैं कि मैं तो छोटी जाति की हूँ, स्त्री हूँ, तब प्रभु कह देते हैं – हे भामिनी, नाता जोड़ते समय मैं इन दस चीजों को नहीं देखता – जाति, पँक्ति, कुल, धर्म, बड़ाई, धन, बल, परिवार, गुण और चतुराई। मैं तो केवल भक्ति देखकर ही नाता जोड़ता हूँ –

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता ।
मानउँ एक भगति कर नाता ।।
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई ।
धन बल परिजन गुन चतुराई ।। ४/३५/४-५

इससे हमें कितना आश्वासन मिलता है कि प्रभु को पाने के लिये स्वयं को किसी जाति के, किसी पँक्ति के, किसी कुल के, किसी बड़े धार्मिक आयोजन करनेवाले के रूप में, या बहुत बड़े धनी परिवार और दानी के रूप में सिद्ध नहीं करना है। प्रभु तो एकमात्र भक्ति का नाता ही मानते हैं। यदि हम ईश्वर से भक्ति का नाता जोड़ना चाहते हैं, तो इस कथा-प्रसंग के प्रत्येक चरित्र से ज्ञात होता है कि भक्ति और उसका स्वरूप क्या है। उनकी करुणा और कृपा भी इसमें आपको सर्वत्र दिखाई देगी। भगवान श्रीराम जो इतने महान् हैं, वह इसीलिये नहीं कि वे इतने गुणों से सम्पन्न हैं। अनेक लोग गुणों से सम्पन्न होते हैं, पर बहुधा दिखता है कि गुणवान को गुणाभिमान भी हो जाता है और वह अभिमान से और अधिक कठोर होता जाता है। दूसरी ओर जो बेचारा गुणहीन तथा निर्बल होता है, वह और भी अधिक दीन-हीन हो जाता है।

एक बार एक सज्जन ने पूछा – "वाल्मीकि रामायण को पढ़कर ऐसा लगता है कि श्रीराम तो बड़े मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं और तुलसीदासजी के ग्रन्थ को पढ़कर लगता है कि प्रभु बड़े कृपालु हैं। मैं कौन-सा मानूँ? आप ही बताइये – वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं या कृपालु हैं?" मैंने कहा – "श्रीराम मर्यादा-पुरुषोत्तम भी हैं, दयालु भी हैं और श्रीराम ही क्यों, हम सभी इन दोनों विशेषातओं से युक्त हैं। उनमें और हममें भेद इतना ही है कि श्रीराम अपने लिये मर्यादा-पुरुषोत्तम तथा दूसरों के लिये कृपालु हैं। और हम लोग अपने लिये कृपालु तथा दूसरों के लिये मर्यादा पुरुषोत्तम हैं।" अपने बारे में विचार करते समय कहेंगे – अरे भाई, यह तो स्वाभाविक है, हो जाता है, इसमें बुरा मानने की क्या बात है ! इस प्रकार अपने प्रति तो हम बड़ी कृपा दिखाते हैं और दूसरों के बारे में कहना हो तो गीता-रामायण आदि सब याद आ जायेंगे – शास्त्र में ऐसा लिखा है और वह ऐसा कर रहा है, यह अनुचित है।

वाल्मीकि जी कहते हैं – भरतजी ने प्रभु से लौटने को कहा, तो प्रभु बोले कि नहीं, तुम चाहे जो भी क्यों न कहो, मैं जीवन में सत्य को कदापि त्याग नहीं सकता। भरतजी यह कहकर बैठ गये कि मैं अनसन करके प्राण दे दूँगा। इस प्रकार वाल्मीकि रामायण को पढ़कर लगता है कि उनके राम कितने सत्यनिष्ठ हैं ! परन्तु 'राम-चरित-मानस' के श्रीराम में बिल्कुल उल्टी बात है। वे भरतजी से यह नहीं कहते कि मैं तो सत्य का पालन करूँगा, तुम चाहे कुछ भी क्यों न करो। वे पिताजी के सत्य की प्रशंसा करते हुए कहते हैं – मेरे पिता इतने सत्यवादी थे कि सत्य के लिये उन्होंने मेरा त्याग कर दिया, परन्तु वे मुझसे इतना प्रेम करते थे कि मेरे लिये अपने प्राणों तक का त्याग कर दिया –

राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी ।
तनु परिहरेउ पेम पन लागी ।। २/२६४/६

गुरु वशिष्ठ के हृदय में आशा जगी कि मेरा शिष्य अब आगे यही कहेगा कि ऐसे पिता की बात मैं नहीं टालूँगा। पर गुरुजी ने सुना कि शिष्य तो बिल्कुल नई भाषा बोल रहा है। श्रीराम बोले – उनका वचन मिटाने में मुझे बड़ा दुख होगा,

पर मैं घोषणा करता हूँ कि मैं उनसे भी अधिक तुम्हें सम्मान और महत्त्व दूँगा और तुम जो कहोगे वही करूँगा –

तासु बचन मेटत मन सोचू ।
तेहितें अधिक तुम्हार सँकोचू ।। २/२६४/७
भरतु कहहिं सोइ किएँ भलाई । २/२५९/८

वाल्मीकिजी के श्रीराम कहते हैं – मैं पिताजी की आज्ञा का पालन करने का निश्चय कर चुका हूँ। पर गोस्वामीजी के श्रीराम कहते है – नहीं, भरत जो कहेंगे, मैं वही करूँगा। पर देखा कि भरत बोल ही नहीं रहे हैं। फिर प्रभु बोले – अरे, संकोच क्यों कर रहे हो? प्रसन्न मन से, संकोच छोड़कर तुम जो भी कहोगे, मैं वही करूँगा –

मन प्रसन्न करि सकुच तजि
कहहु करौं सोइ आजु ।। २/२६४

यह घोषणा सुनकर सारे अयोध्यावासी आनन्द में विभोर हो गये। उन लोगों ने सोचा कि अब तो बस, कहने और करने की ही देर है। श्रीराम तो सत्यवादी हैं और वे जब कह रहे हैं, तो अवश्य करेंगे। सारी जनता सुखी हो गयी –

सत्यसंध रघुबर बचन
सुनि भा सुखी समाजु ।। २/२६४

और उधर स्वर्ग के देवता यह सोचकर बेहोश होने लगे कि भरत लौटाने के लिये तो आये ही हुए हैं और श्रीराम कह रहे हैं कि जो तुम कहोगे मैं वहीं करूँगा। भरत कहेंगे – लौट चलिये और राम लौट जायेंगे। सारा कार्य सत्यानाश हो गया। रावण कैसे मरेगा, निशाचरों का विनाश कैसे होगा !

पर हमारे प्रभु श्रीराम ने सत्य को एक नया अर्थ दिया। बोले – सत्य की रक्षा अवश्य होनी चाहिये, पर यदि किसी व्यक्ति को केवल अपने सत्य की रक्षा की ही चिन्ता है, तो क्या वह सत्य है। अब नया अर्थ क्या है? उन्होंने सत्य के साथ शील को जोड़ दिया। वाल्मीकिजी के राम सत्यनिष्ठ हैं और गोस्वामीजी के राम सत्यनिष्ठ से भी बड़े शीलनिष्ठ हैं।

इस शीलनिष्ठा का क्या अर्थ है? प्रभु कहते हैं – भरत, तुम कहो, तो मैं लौट चलूँ। उन्होंने भरत से जो कहा, वह किसी अन्य से नहीं कह सकते थे। क्या लक्ष्मणजी से कह सकते थे कि तुम कहो तो मैं लौट चलूँ? कभी नहीं। कहीं कह दें – हाँ, लौट चलिये। परन्तु भरतजी से कहा।

क्यों? **प्रभु को भरत के सत्य की चिन्ता थी, अपना सत्य भले ही चला जाये।** और भरतजी को चिन्ता है कि मैं अपनी बात रखने के लिये प्रभु को संकोच में डाल दूँ? उनके प्रति लोगों की धारणा को दूषित बनाऊँ। भरतजी ने प्रभु के चरण पकड़कर कहा – "प्रभो, आप कहते हैं कि संकोच छोड़ दो। पर मुझे एक ही चिन्ता है कि जब भरत संकोच छोड़ेगा, तो वह कहीं तो जायेगा। और मैं जानता हूँ कि वह आप में ही जायेगा, क्योंकि आप शील और संकोच के समुद्र हैं। तो प्रभो, मेरे लिये इससे बढ़कर कलंक की बात क्या होगी ! क्योंकि जो सेवक केवल अपनी बात रखने के लिये स्वामी को संकोच में डाल दे, उसकी बुद्धि तो तुच्छ है –

जो सेवकु साहिबहि सँकोची ।
निज हित चहइ तासु मति पोची ।। २/२६८/३

इसीलिये आपने मुझे आदेश दिया कि तुम प्रसन्न मन से, संकोच छोड़कर कहो, तो मैं आपके चरणों में निवेदन करता हूँ कि प्रभो, आपकी प्रसन्नता ही मेरी प्रसन्नता है –

जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई ।
करुना सागर कीजिअ सोई ।। २/२६९/२

दोनों के ही सत्य की रक्षा हो गई। श्रीराम यदि भरतजी का सत्य बचाते हैं, तो भरतजी भी श्रीराम का सत्य बचाते हैं। जब कोई जीतता है, तो लोग जीतनेवाले का नारा लगाते हैं। स्वार्थी लोग नारा बनाने में भी बहुत कुशल होते हैं। देवताओं को तो इतना आनन्द आया कि वे नारे लगाने लगे। पर किसका नारा लगाया? गोस्वामीजी लिखते हैं – सारे देवता एक स्वर से बोले – धन्य हैं भरतजी महाराज, जय श्रीराम गोसाई। क्या चतुराई का शब्द है ! बोले – विजय तो श्रीराम की ही हुई, क्योंकि वे वन में ही रहे। लेकिन धन्य हैं भरत, क्योंकि उन्होंने श्रीराम को जिता दिया और इसीलिये वे ही हमारे लिये प्रणम्य और पूज्य हैं।

इस चक्कर में मत पड़ियेगा कि कौन सही और कौन गलत? आप जिस कल्प में रह रहे हैं, जो आपकी धारणा है, वही आपको प्रिय प्रतीत होता है।

प्रभु का यह चरित्र सबके लिये समान रूप से परम प्रेरक है। वे इतने कृपालु हैं कि भक्तों की बात रखने के लिये अपनी बात को भी छोड़ने के लिये प्रस्तुत हैं। भगवान राम के चरित्र में इतने गुण हैं कि उसमें से जो जितना लेना चाहे, ले सकता है, फिर भी वह अनन्त तो अनन्त ही रहेगा। ऐसा है प्रभु का चरित्र। महर्षि वाल्मीकि कहते हैं कि जो भगवान की कथा सुनते हुये नहीं अघाते हैं – लगता है कि अभी और चाहिये, और ... और ...। जब देखो, प्रभु के नये गुण, नये अर्थ, प्रकट होते रहते हैं। मैं इसी आनन्द में डूबा रहता हूँ।

मैं कहता हूँ तो आप लोगों को लगता है कि ये बोलते हैं। मुझे लगता है कि विषय पूरा हो गया। पर कभी-कभी जब मैं बोलकर उठता हूँ तो सीढ़ी पर ही प्रभु बता देते हैं कि अभी यह बोलना बाकी है। मानो बता देते हैं कि यह भ्रम न पाल लेना कि तुमने मेरे गुणों को जान लिया है। उनके गुण ऐसे अनन्त हैं कि कभी उसका पार नहीं पाया जा सकता। ऐसे प्रभु हमारे हृदय में निवास करें। कथा उनका सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है। वे हमारे हृदय में कथा के रूप में रहें, चरित्र के रूप में रहें, तत्त्व के रूप में रहें। ऐसा है प्रभु का स्वरूप।

❖ (क्रमशः) ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(४०) साधु तो चलता बना दाग न लागै कोय

गोस्वामी तुलसीदासजी एक बार अपने एक शिष्य हरिदास के साथ सन्त रविदासजी से मिलने गये। उस समय वे एक मरे हुए बैल का चमड़ा निकालने में व्यस्त थे। जब गोस्वामीजी ने उन्हें प्रणाम किया, तो उनसे गले मिलने के लिए उन्होंने अपने दोनों हाथ उनकी ओर बढ़ा दिये, परन्तु उनके हाथ रक्त से सने होने के कारण कपड़ों तथा शरीर में रक्त लग जाने का अन्देशा होने के कारण गोस्वामीजी ने हाथ जोड़कर ही प्रणाम किया। उनके द्वारा गले न मिलने का कारण रविदास जी के ध्यान में आ गया। वे मुस्करा भर दिये। बाद में दूर से ही दोनों में सत्संग हुआ और गोसाईंजी वापस लौट आये। लौटकर जब वे कपड़े उतारने लगे, तो उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उनके कपड़ों पर रक्त के दाग लगे हुये थे। उन्होंने हरिदास से उन्हें धोकर लाने को कहा। हरिदास जब कपड़े धोकर आये, तो उन्होंने बताया – ''ये दाग इतने गहरे हैं कि मेरे द्वारा कोशिश करने के बावजूद भी वे नहीं गये। लगता है ये कभी नहीं मिटेंगे।''

ये शब्द सुनते ही तुलसीदासजी को बात समझ में आ गई। वे हरिदास से बोले – ''मैंने एक सन्त का दिल दुखा दिया। जिस बात को टालने के लिए मैं उनसे गले नहीं मिला, वह इसके बावजूद होकर रही। जब तक मैं उनसे क्षमा नहीं मागूँगा, मैं कभी भी शान्त नहीं रह पाऊँगा।'' यह कहकर वे तुरन्त रविदास जी के पास गये और गले मिलने के लिए उन्होंने अपने हाथ बढ़ाकर उनसे कहा – ''जब तक आप मुझे माफ नहीं कर करेंगे, मैं यहाँ से हिलूँगा नहीं।'' रविदास जी के नेत्र सजल हो गये। वे बोले – ''मुझसे माफी काहे की माँग रहे हो। हमारे पहले मिलन में गले-मिलन का योग न था, वह दूसरे मिलन में हो रहा है।'' दोनों साश्रु-नयन गले मिले और गोसाईंजी जब वापस लौटे और उन्होंने कपड़े उतारे तो देखा कि वस्त्र के दाग मिट चुके थे।

चाह वस्तुत: चर्मकारी है। हमारा शरीर चर्म का बना होने के कारण उससे मोह बना रहता है। परन्तु दूसरे के चर्म में हमें अपवित्र रूप दिखाई देता है और यह हमारी नासमझी है। अस्थि-चर्ममय शरीर में प्रभु का वास होने के कारण वस्तुत: वह पवित्र ही होता है। असली चर्म या अपवित्र वस्तु तो चाह या कामनाएँ हैं। कहा भी है – **चमरिया चाह बसी घट माँह। गुरु अब कैसे धारैं पाँव।।**

(४१) निर्विकार है जिसका मन

एक बार कुछ उपद्रवी लड़के सन्त गजानन महाराज के पास आए और बोले – ''देख, हम तेरे लिए गन्ने की ढेरी लाये हैं। इनमें से तुझे जितना खाना है, खुशी से खा ले, मगर हमारी एक शर्त है कि बाद में हम बचे हुए गन्नों से तेरी पिटाई करेंगे। और यदि तेरे शरीर पर हमारे मारने के चिह्न न दिखे, तो हम तुम्हें महात्मा मानकर 'महाराज' कहेंगे।''

वहीं खड़े एक व्यक्ति ने जब यह सब सुना, तो वह उन लड़कों से बोला – ''तुम लोगों को किसी साधु पुरुष की इस तरह परीक्षा नहीं लेनी चाहिये और न उन्हें तंग ही करना चाहिये।'' परन्तु गजानन महाराज ने उन्हें इशारे से चुप रहने को कहा। इतने में एक लड़के ने महाराज से कहा – ''ऐ ढोंगी, जब तू दूसरों को चमत्कार दिखाता रहता है, तो इन गन्नों की मार से क्यों घबराता है। हम भी तो जरा तेरे चमत्कारों को देख लें।''

इतना कहने के बाद उसने और उसके साथियों ने महाराज को पीटना शुरू किया। जब वे थक गये, तो वे यह देखकर चकित रह गये कि गजानन महाराज के शरीर पर उनके मारने का कोई चिह्न नहीं था। महाराज उनके पास आये और बोले – ''बच्चो, सचमुच तुम्हारे हाथों में दर्द हो रहा होगा।''

फिर भीतर से एक बर्त्तन लाकर उन्होंने अपनी हथेली में एक-एक कर सारे गन्नों को दबाते हुये रस निकाल कर उसे पीने के लिए बच्चों को दिया। यह देख बच्चों को काटो तो खून ही नहीं। बेचारे पछताने लगे कि उन्होंने व्यर्थ ही एक महात्मा की परीक्षा लेनी चाही। उनसे कुछ बोलते न बना और वे चुपचाप सिर नीचा किये वहाँ से चले गये।

इस संसार में दो तरह के लोग होते हैं। एक के शरीर को चोट पहुँचाने पर वे चोट को महसूस करते हैं। क्योंकि शरीर पर की गई चोट का असर उनकी आत्मा पर भी होता है, जबकि दूसरे प्रकार के लोग, जो सिद्ध और निर्विकारी होते हैं, उनके शरीर को चाहे कितनी भी चोट पहुँचाई जाय, उनकी अन्तरात्मा को चोट नहीं पहुँचती। ऐसे महापुरुषों के अन्तर में जो महाशक्ति होती है, उसे आत्मविश्वास कहते हैं। उनकी यह महाशक्ति अपौरुषेय होती है। उनके लिए साधन कितने ही अल्प हों, परिस्थितियाँ कितनी ही प्रतिकूल हों, ऐसे निर्विकारी तथा मनस्वी व्यक्ति अपने पुरुषार्थ तथा मनोयोग से असम्भव को सम्भव कर दिखाते हैं। ❑❑❑

समृद्धि की आधार-शिला (२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(श्री संत गजानन संस्थान अभियांत्रिकी महाविद्यालय, शेगाँव, महाराष्ट्र में स्वामी सत्यरूपानन्द जी पिछले कई वर्षों से वहाँ के विद्यार्थियों के मध्य व्याख्यान देने जाते रहे हैं। कभी-कभी उन्होंने वहाँ के विद्यार्थियों के लिये अंग्रेजी भाषा में व्यक्तित्व विकास सम्बन्धी कार्यशालाएँ भी आयोजित की थीं, जिनमें दिये गये कुछ व्याख्यानों को उक्त महाविद्यालय ने छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित किया है। उन्हीं में से एक पुस्तिका "Pillars of Prosperity" का रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर, के ब्रह्मचारी जगदीश ने 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ हिन्दी में अनुवाद किया है। - सं.)

जीवन जीने हेतु भी एक स्वस्थ दर्शन की परम आवश्यकता होती है, जिसमें व्यक्ति सतत प्रेरित एवं उत्साहित बना रहे तथा वह दर्शन उसकी सफलता, सन्तुष्टि एवं परिपूर्णता को सुनिश्चित कर सके।

किन्तु दूसरों को प्रेरित करने से पूर्व हमें स्वयं प्रेरित होना आवश्यक है। इस हेतु हमारा एक सुस्पष्ट जीवन दर्शन होना अत्यन्त आवश्यक है। हममें से कुछ लोगों को इस बात को लेकर आश्चर्य हो सकता है कि दर्शन और प्रबंधन में क्या सम्बन्ध है? हमारी ऐसी मान्यता होती है कि दर्शन का सम्बन्ध तो अमूर्त एवं गूढ़ बातों से है, वह भला जीवन की दैनन्दिन समस्याओं के प्रबंधन में किस प्रकार से उपयोगी एवं प्रभावी हो सकता है? फलस्वरूप हममें से अधिकांश 'दर्शन' को अव्यहारिक एवं अनावश्यक मानते हैं। तथापि किसी व्यक्ति का कोई जीवन-दर्शन न होना ही उसके जीवन का दर्शन है तथा वह उसके चिन्तन एवं व्यवहार को प्रभावित करता है, भले ही इस तथ्य में आपातत: विरोधाभास दिखता हो। जीवन के प्रति व्यक्ति का यह दृष्टिकोण कालानुक्रम से उद्यम अथवा निगम कार्यों के संचालन हेतु आवश्यक उसकी कार्य-संस्कृति, प्रबंधन-क्षमता एवं प्रशानिक कौशल सब पर अपने प्रभाव का विस्तार करता है।

मानव स्वभाव

एक स्वस्थ, उपयोगी एवं प्रभावी जीवन-दर्शन के निर्धारण हेतु मानव-स्वभाव की समझ प्राथमिक आवश्यकता है। वस्तुत: मनुष्य एक बहुआयामी सत्ता है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से विश्लेषण हेतु मानव के व्यक्तित्व को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है – १. पार्थिव एवं २. आध्यात्मिक।

मानव व्यक्तित्व के 'पार्थिव' अंश के अन्तर्गत समस्त दैहिक क्रिया-कलाप आते हैं। जबकि आध्यात्मिक अंश मन एवं आत्मा का समुच्चय है। विश्व के एवं विशेषकर प्राचीन भारत के अधिकांश महान् चिन्तकों एवं दार्शनिकों का यह मतैक्य है कि मानव के व्यक्तित्व का अपार्थिव या आध्यात्मिक आयाम ही सर्वोच्च व सर्वप्रमुख है। आधुनिक दार्शनिकों एवं मनोवैज्ञानिकों का भी कथन है कि मन, विशेषकर अवचेतन मन, मानव-चरित्र एवं व्यवहार का एक अति महत्त्वपूर्ण पक्ष है। अत: एक प्रबंधक या कार्यपालक के रूप में सफलता अर्जन हेतु व्यक्ति को अपने आध्यात्मिक एवं मनो-जगत के परिमार्जन हेतु विशेष प्रयत्नशील होना आवश्यक है।

विचार एक महान् शक्ति

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है – "तुम जैसा सोचोगे, वैसे हो जाओगे"। वे आगे कहते हैं, "तुम स्वयं अपने भविष्य के निर्माता हो।" एक गौण उपनिषद् 'अमृतबिन्दु उपनिषद्' की अत्यन्त स्पष्ट उक्ति है कि मन ही व्यक्ति के बन्धन एवं मुक्ति का कारण है – ***मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयो:।*** अब फ्रायड, ऐरिक फ्राम तथा अन्य सभी आधुनिक मनोवैज्ञानिक एवं मनोचिकित्सक अपने शोध से इस तथ्य की पुष्टि कर रहे हैं। उनका यह स्पष्ट कथन है कि जिन विचारों का हम सतत चिन्तन करते हैं, वे हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिमार्जन एवं पुनर्निमाण करने में सक्षम होते हैं।

हमारे शारीरिक स्वास्थ्य की सुरक्षा पर्यावरण के साथ हमारी समरस जीवन-शैली पर निर्भर करती है। यदि हम अपने पाञ्चभौतिक शरीर एवं पर्यावरण के नियमों के बीच सहयोग एवं अनुपालन की ओर दृष्टि न रखें तो हमारा जीवन असन्तुलित हो जायेगा। परिणामत: हमारा स्वास्थ्य प्रभावित होगा जो हमारे दु:ख एवं दुर्गति का कारण सिद्ध होगा। ठीक इसी तरह यदि हम मन को स्वस्थ न रखें एवं मनो-जगत के नियमों का अनुपालन न करें तो वह भी हमें सहयोग न देगा तथा अन्तत: नीरस, निर्बल एवं निष्क्रिय हो जायेगा।

उन्नीसवीं शताब्दी के एक अत्यन्त ख्यातिलब्ध ब्रितानी लेखक, जेम्स एलेन, अपनी विश्वविख्यात प्रेरणादायी किताब 'ऐज ए मैन थिंकेथ' में लिखते हैं, "मन एक कुशल बुनकर है। वह व्यक्ति के चरित्र रूपी अधोवस्त्र एवं प्राप्त परिस्थितियों के रूप में बहिर्वस्त्र, इन दोनों की ही बुनाई करता है।"

यह जेम्स एलेन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार है। अधोवस्त्र अर्थात् किसी कार्ययोजना की स्पष्टता एवं तारतम्यता, सफलतादायी अनुकूल बाह्य परिस्थितियों को भी लक्ष्य सिद्धि हेतु आकर्षित कर लेती है। यह कथन दिवा-स्वप्न की तरह भ्रान्त प्रतीत हो सकता है, किन्तु आज विश्व के समस्त मनोवैज्ञानिक इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि हमारे जीवन को प्रभावित एवं आकार देने में विचारों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। उदाहरणार्थ हम देखते हैं कि नकारात्मक

चिन्तन के आदी व्यक्ति अनुकूलतम परिस्थितियों में भी असफल ही रहते हैं, जबकि विधेयात्मक चिन्तन के धनी व्यक्ति कुछ अधिक कठिन एवं भयावह परिस्थितियों में भी सफलता अर्जित कर लेते हैं।

दोषपूर्ण चिन्तन का दृष्टान्त महाभारत के महान् योद्धा अर्जुन के जीवन का दिया जा सकता है। महाभारत युद्ध से पूर्व महारथी अर्जुन अत्यन्त उत्साही था। किन्तु दोनों ओर की सेनाओं के मध्य उपस्थित हो, योद्धाओं का निरीक्षण करने की इच्छा से जब उसने देखा तब दोनों ओर ही उसे अपने प्रिय मित्र, नाते-रिश्तेदार दीख पड़े तथा वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो सन्ताप से भर उठा। सांसारिक प्रेम एवं आसक्ति ने उसे मोहान्ध कर विह्वल कर दिया। उसका मन नकारात्मक चिन्तन से विक्षुब्ध हो उठा। ऐसा महावीर योद्धा स्वयं को शक्तिहीन एवं सर्वथा अयोग्य अनुभव करने लगा। अत: इस दृष्टान्त से यह भलीभाँति स्पष्ट है कि विचारों की जीवन में अति विशिष्ट भूमिका होती है। अतएव प्रबंधन के क्षेत्र में भी हमें किसी कार्य-योजना पर विचार करने के पूर्व अपने वैचारिक स्तर की गुणात्मकता के संवर्धन हेतु प्रयत्नशील होना आवश्यक है।

समृद्धि का प्रथम सोपान - लक्ष्य

हमने अब तक सफल जीवन एवं प्रबंधन के दर्शन, इन विषयों पर विचार किया है। हमारे चिन्तन का सारांश यह है कि सफलता हेतु हमारी समस्त उर्जा का प्रवाह परम लक्ष्य की ओर ही निर्दिष्ट होना चाहिए। न केवल किसी अभियान अथवा उद्यम हेतु, अपितु सफल जीवन की सुनिश्चितता के लिए भी एक निश्चित लक्ष्य का होना अनिवार्य शर्त है। एक स्पष्ट महत् एवं व्यावहारिक लक्ष्य कार्य की समाप्ति तक व्यक्ति को सतत प्रेरित करता रहता है।

लक्ष्य-निर्धारण के पूर्व हमें कुछ आवश्यक बातों पर ध्यान देना चाहिये।

हमारे प्राचीन ऋषियों ने मानव-जीवन की सार्थकता हेतु लक्ष्य-निर्धारण के विषय में अत्यन्त सार्थक परामर्श दिया है। वे कहते हैं कि हमारा जीवन-आदर्श ऐसा हो जो इस पार्थिव जगत में हमें भौतिक समृद्धि प्रदान करे (अभ्युदय) तथा नैतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से सन्तुष्टि, परिपूर्णता एवं धन्यता का बोध प्रदान करे (नि:श्रेयस्)।

सांसारिक समृद्धि (अभ्युदय)

अभ्युदय का तात्पर्य व्यक्ति एवं समाज के भौतिक संसाधनों के विकास से है। अभ्युदय की दशा में मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति अत्यल्प प्रयास से ही पूर्ण होना सम्भव हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता एवं सामर्थ्यानुसार स्वहित के स्थान पर सर्वजनहिताय अपना योगदान प्रदान करता है।

'अन्त भला, तो सब भला' इस सूक्ति को आधुनिक प्रबंधन में अत्यन्त उपयोगी माना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि लक्ष्य आदर्शयुक्त एवं कल्याणकर प्रतीत होता हो तो उसे प्राप्त करने हेतु अनुचित एवं अन्यायपूर्ण उपायों एवं साधनों का प्रयोग करना नीति-विरुद्ध न होगा। किन्तु किंचित् विचार करने पर हमें ज्ञात होगा कि ऐसा सिद्धान्त मूल्य आधारित प्रबंधन के मूल पर ही कुठाराघात करता है। हमें सदैव यह स्मरण रखना चाहिये कि आदर्श एवं कल्याणकर लक्ष्य कभी अनुचित उपायों से प्राप्त नहीं किया जा सकता, भले ही इस तथ्य के विरुद्ध हम कितने ही कुतर्क क्यों न जुटा लें। अन्तत: दूषित साधन समस्त तंत्र को धूमिल एवं परिणामों को कुप्रभावित करेगा। इस तरह की नीति अन्तत: सम्पूर्ण निगम-ढाँचे को विनष्ट करने का कारण बनेगी। प्राचीन इतिहास में राजा नीरो एवं अर्वाचीन इतिहास में हिटलर का जीवन इस तथ्य की सशक्त रूप से पुष्टि करता है। उन्होंने कल्याण एवं समृद्धि हेतु अत्यन्त क्रूर एवं बर्बर संसाधनों का उपयोग किया तथा यह सर्वविदित ही है कि परिणाम कितना दुखद एवं दुर्भाग्यपूर्ण हुआ। अत: उत्तम एवं आदर्श लक्ष्य की प्राप्ति हेतु अनुचित संसाधनों के उपयोग को सही ठहराना अत्यन्त भ्रान्त मन:स्थिति एवं अपरिपक्वता का परिचायक है।

परमानन्द (नि:श्रेयस्)

नि:श्रेयस् का अर्थ है व्यक्ति का नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास। वर्तमान में इस उद्देश्य की प्राप्ति के दो उपाय हैं।

प्रथम उपाय है – भौतिकवाद। भौतिकवाद विचारधारा में मनुष्य पदार्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। व्यक्ति के आध्यात्मिक एवं धार्मिक पक्ष पर विचार की कोई आवश्यकता ही नहीं है। उदाहरणार्थ कार्ल मार्क्स ने धर्म को 'अफीम' की संज्ञा दी। जबकि फ्रायड उसे भ्रम मानता था। भोगवादी भौतिकता-परायण विचारधारा के पक्षधर इन व्यक्तियों ने आध्यात्मिक नैतिक एवं धार्मिक विचारों से सर्वथा विच्छिन मात्र प्रचलित सामाजिक आर्थिक मूल्यों को ही स्वीकार किया।

भोगवादी विचारधारा के अनुसार प्रबन्धन का एकमात्र लक्ष्य है व्यक्ति की दैनन्दिन भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति येन-केन प्रकारेण सुनिश्चित करना। अवसर उपस्थित होने पर अपने लक्ष्यों की पूर्ति हेतु शोषण, अत्याचार, सैन्यबल अथवा अन्य तरह के बलों का प्रयोग इस विचारधारा में न्याय सम्मत हैं।

❖ (क्रमश:) ❖

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। जनवरी २००४ से आरम्भ करके जून २००५ के अंकों तक कुल ६१ कथाएँ प्रकाशित हुई थीं, शेष कथाएँ इस तथा आगामी अंकों में – सं.)

– ६२ –

माया की महिमा

जीव माया के राज्य में रहता है। यही माया ईश्वर को जानने नहीं देती। इसी माया ने मनुष्य को अज्ञानी बना रखा है। इस माया के परे जाना बड़ा ही कठिन है। इस क्षणभंगुर संसार में वह भविष्य के लिये तरह-तरह की आशाएँ सँजोये तरह-तरह की योजनाएँ बनाता रहता है। इस प्रसंग में श्रीरामकृष्ण ने अपने भानजे हृदय से सम्बन्धित एक घटना का वर्णन करते हुए कहा था –

"हृदय एक बछड़ा लाया था। एक दिन मैंने देखा कि उसने उसे चराने के लिये बगीचे में बाँध दिया है। मैंने पूछा, 'हृदय, तू रोज उसे वहाँ क्यों बाँध रखता है?' हृदय बोला, 'मामा, बछड़े को घर भेजूँगा। बड़ा होने पर वह हल में जोता जाएगा।' इतना सुनते ही मैं मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। सोचा, माया का कैसा खेल है! कहाँ तो कामारपुकुर और सिहोड़* और कहाँ कलकत्ता! यह बछड़ा उतना रास्ता चलकर जाएगा, वहाँ बढ़ता रहेगा, फिर कितने दिन बाद हल खींचेगा! इसी का नाम संसार है – इसी का नाम माया है। बड़ी देर बाद मेरी मूर्च्छा टूटी थी।"

– ६३ –

संसारी आदमी की हालत

बचपन में मनुष्य सरल होता है, परन्तु आयु बढ़ने के साथ क्रमशः दुनियादारी में फँसकर वह संसारी हो जाता है और मोह के वशीभूत होकर जागतिक वस्तुओं के हानि-लाभ को ही सब कुछ समझने लगता है। धन-सम्पदा तथा पत्नी-पुत्र आदि में आसक्ति के फलस्वरूप ही सुख-दुख का बोध करता है। इसी बात को समझाने के लिये श्रीरामकृष्ण अपने बचपन के एक मित्र के रूपान्तरण का वर्णन करते हैं –

कामारपुकुर में श्रीराम मल्लिक को इतना मैं प्यार करता था, परन्तु जब वह यहाँ आया, तब उसे छू भी न सका। श्रीराम से बचपन में बड़ा मेल था। दिन-रात हम दोनों एक साथ रहते थे। एक साथ सोते थे। तब सोलह-सत्रह साल की उम्र थी। लोग कहते थे, इनमें से अगर एक औरत होता तो साथ ही विवाह भी हो जाता! उसके घर में हम दोनों खेलते थे। उस समय की सब बातें याद आ रही हैं। उसके सम्बन्धी पालकी पर चढ़कर आया करते थे।

अब उसने चानक में दूकान खोली है। श्रीराम को देखने के लिए कितनी ही बार मैंने उसे बुलावा भेजा। उस दिन आया था, यहाँ दो दिन रहा। श्रीराम ने कहा, "मेरे तो लड़के-बच्चे नहीं हुए, भतीजे को पालकर बड़ा कर रहा था कि वह भी गुजर गया।" यह कहते-कहते श्रीराम ने लम्बी साँस छोड़ी, उसकी आँखों में पानी भर आया। वह अपने भतीजे के लिए शोक प्रकट करने लगा। फिर बोला, "लड़का नहीं हुआ था, इसलिए स्त्री का पूरा प्यार उसी भतीजे पर था। अब वह शोक से अधीर हो रही है। मैं उसे बहुत समझाता हूँ, पगली, अब शोक करने से क्या होगा? तू वाराणसी जायेगी?" अपनी स्त्री को वह पागल कहता था। भतीजे के लिए दुःख करने से वह एकदम गल गया था। मैं उसे छू नहीं सका। देखा – उसमें कोई सारतत्त्व नहीं है।

– ६४ –

संसारी लोगों की धनासक्ति

बड़े भाग्य से ही व्यक्ति में ऐसी सद्बुद्धि आती है कि वह धर्मकार्य तथा जनहित के लिये अपने धन का सदुपयोग करे। विषयासक्त संसारी लोग सुखभोग के लिये तो बहुत-सा धन खर्च कर डालते हैं, परन्तु जब धर्मकार्य हेतु टेंट ढीली करनी पड़ती है, तो बगलें झाँकने लगते हैं। इससे कभी-कभी तो बड़ी हास्यास्पद परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी बात को समझाने के लिये श्रीरामकृष्ण कहते हैं –

यहाँ (दक्षिणेश्वर में मेरे पास) आकर कुछ पूजा भी नहीं चढ़ानी पड़ती। यदु (मल्लिक) की माँ ने इस पर कहा था, "दूसरे साधु बस 'लाओ-लाओ' किया करते हैं। बाबा, तुममें यह बात नहीं है।" विषयी आदमियों को यदि अपने गाँठ का पैसा खर्च करना पड़े, तो उनकी जान ही निकल आती है।

एक जगह नाटक हो रहा था। एक आदमी को बैठकर उसे देखने की बड़ी इच्छा थी। उसने झाँककर देखा, तो पता चला कि बैठकर देखने के लिये पैसे देकर टिकट लेने पड़ते हैं, फिर क्या था – वहाँ से चलता बना। एक दूसरी जगह

---

* श्रीरामकृष्ण तथा हृदयराम का गाँव

नाटक हो रहा था, वह वहाँ भी गया। पूछने पर ज्ञात हुआ कि वहाँ टिकट नहीं लगता। वहाँ बड़ी भीड़ थी। वह दोनों हाथों से भीड़ को चीरता हुआ बीच महफिल में जा पहुँचा और अच्छी तरह मूँछों पर ताव दे-देकर नाटक देखने लगा!

– ६५ –

वर्तमान युग का अन्धविश्वास

आज के युग में एक नये प्रकार का अन्ध-विश्वास फैला हुआ है। पाश्चात्य वैज्ञानिक लोग जो कुछ भी कह देते हैं, लोग उस पर आँखें मूँदकर विश्वास कर लेते हैं। और यदि 'विज्ञान' की पुस्तकों में कोई बात न लिखी हो, तो इस कारण लोग उस पर विश्वास नहीं करते – इसी तथ्य को समझाने के लिये श्रीरामकृष्ण यह कथा बताते हैं –

एक व्यक्ति ने जाकर अपने मित्र से कहा, ''देखो जी, कल मैं उस मुहल्ले से होकर जा रहा था, तभी देखा – वह मकान भरभराकर गिर पड़ा।'' मित्र बोला, ''जरा ठहर जाओ, मैं अखबार में देख लूँ।'' अखबार में घर के भरभराकर गिरने की बात का बिल्कुल भी उल्लेख नहीं मिला। तब उसने कहा, ''क्यों जी, अखबार में तो कहीं कुछ नहीं लिखा है। तुम्हारा कहना सच नहीं लगता।'' उस व्यक्ति ने कहा, ''मैं स्वयं अपनी आँखों से देखकर आ रहा हूँ।'' मित्र फिर बोला, ''सम्भव है कि तुमने देखा हो, पर अखबार में यह बात नहीं लिखी है, अत: मैं उस पर विश्वास नहीं कर सकता।''

श्रीरामकृष्ण कहते हैं, ''पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त लोग नहीं मानते कि ईश्वर इस जगत् में मनुष्य के रूप में आकर लीला करते हैं, क्योंकि यह उनकी अंग्रेजी शिक्षा के दायरे में नहीं आता। पूर्ण अवतार – साढ़े तीन हाथ के भीतर अनन्त का समा जाना – इसे समझाना बड़ा कठिन है।''

– ६६ –

चापलूसों की दशा

संसार में लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये बड़े लोगों के समक्ष उनकी चापलूसी करते हैं और पीठ-पीछे निन्दा। परन्तु बड़े लोग भी उनकी चालाकी समझ जाते हैं और उनके झाँसे में नहीं आते। फलत: चापलूसों को अपना सा मुँह लेकर रह जाना पड़ता है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं –

चापलूस लोग समझते हैं कि बाबू उन्हें खुले-हाथ धन दे देंगे; परन्तु बाबू से धन निकालना बड़ा कठिन काम है। एक सियार ने एक बैल को देखा और उसका साथ पकड़ लिया। वह कभी उसे छोड़ता ही न था। बैल जहाँ-जहाँ चरता फिरता, सियार भी वहीं आस-पास रहता। सियार ने सोचा था कि बैल का जो अण्डकोष लटक रहा है, वह कभी-न-कभी तो गिरेगा ही और वह उसे खा लेगा।

बैल जब सोता, तो सियार भी उसके पास ही लेट जाता और जब बैल उठकर घूम-फिरकर चरता, तो वह भी साथ-साथ रहता। इसी प्रकार बहुत दिन बीत गये, परन्तु वह कोष गिरा नहीं। अन्त में सियार निराश होकर अपने रास्ते चला गया! संसार में चापलूस लोगों की भी ऐसी ही दशा है।

– ६७ –

सभी धर्म सत्य हैं

लोग अपने धर्ममत के आधार पर दूसरों को नीचा दिखाने का प्रयास किया करते हैं। इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्ण कहते हैं – ''ऐसा कहना उचित नहीं कि ईश्वर के विषय में हमने जो कुछ समझा है, वही ठीक है और दूसरे जो कुछ सोचते हैं, सब गलत है। अर्थात् यदि हम उन्हें निराकार कह रहे हैं, तो वे साकार हो ही नहीं सकते और यदि हम उन्हें साकार कह रहे हैं, तो वे निराकार हो ही नहीं सकते! मनुष्य क्या कभी उनकी इति कर सकता है? वैष्णवों और शाक्तों के बीच इसी तरह का विरोध है। वैष्णव कहता है – 'हमारे केशव ही एकमात्र उद्धारक हैं' और शाक्त कहता है – 'बस हमारी भगवती एकमात्र उद्धार करनेवाली हैं।'

''मैं वैष्णवचरण को मथुर बाबू के पास ले गया था। वैष्णवचरण वैरागी था, बड़ा पण्डित था, परन्तु कट्टर वैष्णव था। इधर मथुर बाबू भगवती के भक्त थे। अच्छी बातें हो रही थीं, तभी वैष्णवचरण ने कह डाला, 'मुक्ति देनेवाले तो एक केशव ही हैं।' उसके केशव का नाम लेते ही सेजो बाबू का मुँह लाल हो गया। वे बोले, 'तू साला।' मथुर बाबू शाक्त जो थे! उनके लिए यह कहना स्वाभाविक ही था। मैंने इधर वैष्णवचरण को खींच लिया।

''लोगों को देखता हूँ – हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मसमाजी, शाक्त, वैष्णव, शैव – सब धर्म-धर्म करके आपस में लड़ाई-झगड़ा किया करते हैं। यह बुद्धिमानी नहीं है। जिन्हें कृष्ण कहते हो, वे ही शिव हैं, वे ही आद्याशक्ति हैं, वे ही ईसा हैं और वे ही अल्लाह हैं। एक राम और उनके हजार नाम।''

– ६८ –

खेती करनेवाला पण्डित

एक आदमी को एक ऐसे पण्डित की जरूरत पड़ी, जो प्रतिदिन आकर उसे भागवत सुना सके। उसे कोई भागवती पण्डित मिल नहीं रहा था। बहुत खोजने के बाद उसके एक मित्र ने कहा – ''भाई, मैं एक बहुत अच्छे भागवती पण्डित को जानता हूँ।'' वह बोला – ''फिर तो काम बन गया। उसे ले आओ।'' मित्र ने कहा – ''परन्तु जरा-सी कठिनाई है। उसके बहुत-सी खेती और हल-बैल हैं। वह उन्हीं को लेकर दिन-रात काम में लगा रहता है, खेती-बारी से उसे बिल्कुल भी फुर्सत नहीं मिलती।''

भागवत सुनने के इच्छुक व्यक्ति ने कहा – "अरे भैया, मुझे ऐसे पण्डित की जरूरत नहीं, जो दिन-रात हल-बैलों के पीछे लगा रहता हो। मैं तो ऐसा पण्डित चाहता हूँ, जिसे फुर्सत हो और जो मुझे भागवत सुना सके।"

तात्पर्य यह कि कोरे पाण्डित्य से कोई लाभ नहीं। यदि किसी में विवेक-वैराग्य हो, तो उसकी बातें सुनी जा सकती हैं। परन्तु जिसने संसार को ही सार समझ लिया है, उसकी बातों को सुनने से कोई विशेष लाभ नहीं होता।

– ६९ –

कुम्हड़ा काटनेवाले जेठजी

किसी-किसी परिवार में एक ऐसा व्यक्ति होता है, जो रात-दिन बच्चों से घिरा रहता है। वह बाहरवाले कमरे में बैठकर हमेशा हुक्का पीता रहता है। निकम्मा ही बैठा रहता है। हाँ, कभी-कभी घर के भीतर जाकर कुम्हड़ा काट देता है। बंगाल में महिलाओं के लिए कुम्हड़ा काटना मना है, इसीलिए वे बच्चों से कहती हैं – "जेठजी को यहाँ बुला लाओ, वे कुम्हड़ा काट देंगे।" तब वह आकर कुम्हड़े के दो टुकड़े कर देता है ! बस, इतनी ही उसकी उपयोगिता है। इसलिए उसे 'कुम्हड़ा काटनेवाले जेठजी' कहते हैं।

वह न तो संसारी होता है और न भगवान की भक्ति ही करता है। यह अच्छा नहीं। ईश्वर के चरणकमलों में मन रखकर संसार का कामकाज करना चाहिये।

– ७० –

चार प्रकार के जीव

जीव चार प्रकार के होते हैं – बद्ध, मुमुक्षु, मुक्त और नित्य। नारद आदि नित्य-जीव हैं। ऐसे जीव औरों के हित के लिए, उन्हें शिक्षा देने के लिए इस संसार में रहते हैं।

बद्ध-जीव विषय में फँसा रहता है। वह ईश्वर को भूल जाता है, कभी ईश्वर-चिन्तन नहीं करता।

मुमुक्षु-जीव वह है, जो मुक्ति का इच्छुक है। मुमुक्षुओं में से कोई-कोई मुक्त हो जाते हैं, कोई-कोई नहीं हो सकते।

मुक्त-जीव संसार के कामिनी-कांचन में नहीं फँसते, जैसे साधु-महात्मा। इनके मन में विषय-बुद्धि नहीं रहती। ये सदा ईश्वर के ही पादपद्मों का चिन्तन करते हैं।

तालाब में जाल फेंकने पर, दो-चार होशियार मछलियाँ जाल में नहीं आतीं। यह नित्य जीवों की उपमा है।

परन्तु अनेक मछलियाँ जाल में फँस जाती हैं। इनमें से कुछ निकल भागने की भी चेष्टा करती हैं। यह मुमुक्षुओं की उपमा है। परन्तु सब मछलियाँ नहीं भाग सकतीं। केवल दो चार उछल-उछलकर जाल से बाहर हो जाती हैं। तब मछुआ कहता है, अरे एक बड़ी मछली बह गयी।

किन्तु जो जाल में पड़ी हैं, उनमें से अधिकांश मछलियाँ निकल नहीं सकतीं। वे भागने की चेष्टा भी नहीं करतीं, जाल को मुँह में फाँसकर मिट्टी के नीचे सिर घुसेड़कर चुपचाप पड़ी रहती हैं और सोचती हैं, अब कोई भय की बात नहीं, बड़े आनन्द में हैं। पर वे नहीं जानतीं कि मछुआ घसीटकर उन्हें ले जाएगा। यह बद्ध जीवों की उपमा है।

– ७१ –

भले-बुरे – सबकी उपयोगिता है

इस संसार में दुष्ट लोगों की भी आवश्यकता है।

एक गाँव के लोग बहुत उद्दण्ड हो गए थे। उस समय वहाँ गोलोक चौधरी को भेज दिया गया। उसका इतना कठोर अनुशासन था कि लोग उसके नाम से ही काँपने लगे। अत: अच्छे-बुरे सभी तरह के लोग चाहिए।

एक बार सीताजी बोलीं – "राम, मैं देख रही हूँ कि अयोध्या के अनेक मकान टूट गए हैं, कुछ पुराने भी हो गए हैं। यदि यहाँ के सभी लोग सुन्दर महलों में रहते, तो कितना अच्छा होता!" श्रीराम बोले – "सीते, यदि सभी मकान सुन्दर हों तो मिस्त्री लोग क्या करेंगे?"

ईश्वर ने सभी प्रकार के पदार्थ बनाए हैं – अच्छे पेड़, विषैले पेड़ और व्यर्थ के पौधे भी। जानवरों में भले-बुरे सभी हैं – बाघ, शेर, साँप – सभी हैं।

– ७२ –

धनी आदमी का नौकर

यदि कोई धनी आदमी का बगीचा देखने आता है, तो बगीचे का कर्मचारी कहता है – यह बगीचा मेरा है, ये मकान मेरे हैं, यह तालाब मेरा है; परन्तु किसी कसूर पर जब वह नौकरी से अलग कर दिया जाता है, तब उसे आम की लकड़ी के बने हुए सन्दूक को भी ले जाने का अधिकार नहीं रह जाता, सन्दूक दरवान के हाथ भेज दिया जाता है।

मृत्यु का सर्वदा स्मरण रखना चाहिए। मरने के बाद कुछ भी न रह जाएगा। यहाँ कुछ कर्म करने के लिए आना हुआ है। जैसे कि देहात में घर है, परन्तु काम करने के लिए शहर में आया जाता है। इसी प्रकार सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि किसी कार्यवश ही हम दुनिया में आये हैं और मृत्यु के बाद हमें ईश्वर के पास लौट जाना होगा। ❑❑❑

माँ श्री सारदा देवी (४)

आशुतोष मित्र

यह रचना 'श्रीमाँ' नामक पुस्तक के रूप में १९४४ ई. के नवम्बर में प्रकाशित हुई थी। यहाँ उसके प्रथम तीन अध्याय ही लिये गये हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस अंश का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

भगिनी निवेदिता ने जब अपने बालिका-विद्यालय को बोसपाड़ा लेन के १६ नं. से १७ नं. के मकान में स्थानान्तरित किया, तब उसी मकान को माँ के लिए किराये पर लिया गया और वे जयरामबाटी से छोटी मामी (अक्षय कुमार की विधवा) तथा उसकी नवजात पुत्री को लेकर वहाँ आ गयीं।

अक्षय कुमार की मृत्यु के समय उनकी पत्नी गर्भवती थीं। वे सदा से दुखिनी थीं। बचपन में माँ के दिवंगत जो जाने के कारण किसी अन्य ने उनका पालन किया। दुर्भाग्य से उन पालनकर्त्री की भी मृत्यु हो गयी।

अब वे यौवन की शुरुआत में ही विधवा हो गयी थीं। उनके बारे में एक दिन माँ के मुख से सुना था – "वह पागल नहीं होगी, तो कौन होगा? एक तो इस कच्ची उम्र में उसे इतना शोक-ताप मिला है और एक दिन सुबह कोलकाता के मकान (१६, बोसपाड़ा लेन) में एक चोर को देखकर वह घबराकर गिर पड़ी। तभी से ऐसी हो गयी है।"

छोटी मामी के मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाने के कारण और शिशु राधू की देखरेख करने हेतु माँ को जयरामबाटी जाना पड़ा। उस बार वे कोलकाता में अधिक दिन नहीं रह सकीं। दुबारा जब वे कोलकाता आयीं, तब तक राधू थोड़ी बड़ी हो गयी थी और कह सकते हैं कि वह बालिका अवस्था में पदार्पण कर चुकी थी। इस बार माँ बागबाजार स्ट्रीट के मकान नं. २/१ में ठहरीं।

१३१० बंगाब्द (१९०४ ई.) के फाल्गुन माह में पश्चिमी भारत से लौटकर हम लोगों ने माँ को इसी मकान में पाया। उनके इस मकान में हमने शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द), दीन महाराज (स्वामी सच्चिदानन्द) और एक नये लड़के को देखा। वह लड़का माँ के इस बार कोलकाता आने के पूर्व से ही बलराम बाबू के मकान में शरत् महाराज से मिलने आया करता था। माँ के आने पर अब वह उनके घर का बाजार तथा अन्य जरूरी कार्य करने लगा। वह प्रतिदिन दोनों समय राजवल्लभ मुहल्ले में जाकर अपने पिता के पास खाना खाता और रात को वहीं सोता। बाद में वह एक ब्रह्मचारी के रूप में माँ के घर में ही रह गया।

उस युवक का नाम था गणेन्द्रनाथ। एक दिन गणेन्द्रनाथ ने हम लोगों के साथ चर्चा करने के बाद माँ से दीक्षा लेने का निश्चय किया। पहले कमाये हुए उनके थोड़े-से रुपये शरत् महाराज के पास जमा थे। उससे उन्होंने अपनी दीक्षा के लिए एक वस्त्र, कुछ आम और कुछ मिठाइयाँ खरीदीं। एक दिन पूर्व ही उन्होंने वह कपड़ा धोकर सुखा लिया। अगले दिन उनकी दीक्षा हुई। माँ ने उस दिन वही वस्त्र धारण किया था। गणेन्द्रनाथ फोटो खींचना जानते थे – इस मकान में उन्होंने माँ के दो-एक फोटो निकाले।

अब से मैं माँ के पास ही रह गया। ऊपर उनके पास जाने पर वे हरिद्वार, कनखल, ऋषीकेश आदि स्थानों की बातें सुनकर छोटी बच्ची की तरह खुश हुआ करती थीं।

एक बार एक दुश्चरित्र नारी ने एक सज्जन पुरुष के चरित्र पर लांछन लगाया। मठ के सभी लोगों को पता चला कि माँ ने उसकी बात पर विश्वास कर लिया है, किसी-किसी ने आकर माँ को खूब समझाने-बुझाने का प्रयास किया, पर किसी भी प्रकार उनका मत बदलने में सफल नहीं हो सके। सबके लिये माँ का एक ही उत्तर था, "तुम नहीं जानते, वह ऐसा ही है।" आखिरकार राखाल महाराज के आदेश से मैंने माँ को बहुत समझाकर कहा, "मै स्वयं कई वर्षों से उसे जानता हूँ – कई वर्षों से देख रहा हूँ, वह ऐसा नहीं है। यदि आप उसके बारे में ऐसी धारणा रखेंगी, तो इससे उसका अकल्याण होगा।" इस पर भी माँ का मत नहीं बदला – उनका बस वही एक उत्तर मिला, जबकि उन्होंने कभी उसे देखा तक नहीं था और वह भी कभी उनके पास आया नहीं था।

माँ के नीलमाधव[१७] नाम के एक चाचा थे। वे अविवाहित थे और पाइकपाड़ा-राजभवन में रसोइये का काम करते थे। अब वृद्धावस्था में वे सेवानिवृत्त होकर पेंशन पा रहे थे। गाँव में माँ के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा उनका उत्तरदायित्व ग्रहण न करके के कारण इस बार वे उन्हें अपने साथ ले

१७. नीलमाधव मुखोपाध्याय। वे माँ के पिता रामचन्द्र मुखोपाध्याय के छोटे भाई थे। – सम्पादक

आयी थीं। हम देखते कि माँ अपने हाथों से उनकी सेवा कर रही हैं। मैंगोस्टीन और आम माँ को पसन्द होने के कारण, उनका मौसम न होने पर भी हम लोग प्राय: ही हग-मार्केट से उन्हें ले आते, परन्तु यह देखकर हमें दुख होता कि वे स्वयं थोड़ा-सा या कभी बिल्कुल भी न खाकर, सब अपने इन चाचाजी को खिला देतीं। एक दिन जब मुझसे रहा नहीं गया और मैंने माँ को इस विषय में टोक बैठा। उन्होंने उत्तर दिया – "बेटा, चाचा और कितने दिन रहेंगे? अभी उनकी इच्छा मिटा देना ही अच्छा है। हम लोग तो अभी बहुत दिन जीवित रहेंगे, बहुत खायेंगे।" माँ की इस बात को मैंने लिपिबद्ध तो कर दिया, पर जिस भाव से उन्होंने इसे कहा था, उसे मैं जरा-सा भी ठीक से व्यक्त नहीं कर पा रहा हूँ। ये बातें उन्होंने एक ऐसे भाव के साथ कही थीं और वही भाव हमारे हृदय में इतनी दृढ़तापूर्वक अंकित हो गया कि फिर कभी – यहाँ तक कि राधू के लिए भी – इस प्रकार के सैकड़ों दृष्टान्त देखकर भी हमारे मन में दुख नहीं हुआ।

निवेदिता स्कूल में एक घोड़ागाड़ी थी। माँ उस गाड़ी में बैठकर गंगा-स्नान करने जातीं और सप्ताहिक अवकाश के दिन स्कूल बन्द रहने पर हम लोग इसी गाड़ी में उन्हें लेकर कभी मैदान, कभी म्यूजियम, कभी अलीपुर का चिड़ियाखाना, कभी शिवपुर का वनस्पति-उद्यान, कभी कालीघाट, तो कभी कालीपूजा के समय दीपावली की सजावट दिखाने बड़ाबाजार ले जाते। अधिकांश स्थानों पर माँ गाड़ी से उतरकर पैदल घूमतीं और सरल बालिका की भाँति आनन्द प्रकट करतीं। उन्हें इस प्रकार ले जाने के पीछे हम लोगों के दो उद्देश्य रहते – प्रथमत: तो वे सारे दिन घर में ही आबद्ध रहती हैं, अत: बाहर की हवा से उनके स्वास्थ्य में सुधार हो सकेगा और द्वितीयत: दक्षिणेश्वर के नौबतखाने में रहते समय उनके पाँवों में जो वातरोग हो गया था और जिसके कारण उन्हें थोड़ा लँगड़ाकर चलना पड़ता था, आशा थी कि उनके थोड़ा चलने-फिरने से शायद वह ठीक हो जाय।

काकुड़गाछी योगोद्यान के अध्यक्ष स्वामी योगविनोद एक दिन सुबह आये और हम लोगों के समक्ष माँ को प्रणाम करने की इच्छा व्यक्त की। हम उन्हें ऊपर ले गये। वहाँ जाकर उन्होंने माँ को जन्माष्टमी के उत्सव में आने का निमंत्रण दिया और उनसे आने का वचन भी ले लिया। अत: जन्माष्टमी के दिन मैं निवेदिता-विद्यालय की गाड़ी में माँ, लक्ष्मी दीदी, गोलाप-माँ, नलिनी और राधू को वहाँ ले गया। उत्सव अच्छा हुआ। वहाँ मैंने बहुत-से लोगों का समागम देखा। गिरीशचन्द्र और मास्टर महाशय भी थे। दल-के-दल संकीर्तन करनेवाले आये थे। लेकिन बीच-बीच में गोलाप-माँ आकर कहतीं – "माँ को वापस ले चलो।" जब हम लोगों ने योगविनोद से यह बात कही, तो वे छोड़ने को राजी नहीं हो रहे थे। कई बार कहने के बाद जब उन्होंने आने दिया, उस समय तक शाम के करीब छह बज चुके थे।

लौटकर गोलाप-माँ और लक्ष्मी दीदी से मुझे पता चला कि वहाँ माँ को बड़ा कष्ट हुआ था – सारे दिन उन्हें अपना पूरा शरीर चादर से ढँके रखना पड़ा – असंख्य लोग प्रणाम करने आते रहे और उस दौरान उन्हें जरा-सा भी विश्राम नहीं मिला। इस सड़ी गर्मी में उन्हें काठ की पुतली की भाँति स्थिर बैठना पड़ा। सर्वाधिक कष्ट तो उन्हें ठाकुर के समाधि-स्थल (ठाकुर के लीलावसान के बाद उनकी पूत अस्थियाँ जहाँ समधिस्थ हैं, उसे) देखकर हुआ।

एक दिन गिरीशचन्द्र माँ को थियेटर दिखाने ले गये और उन्हें रॉयल बॉक्स में बिठाया। उन्होंने उनके लिये बड़ेवाले हाथपंखे की भी व्यवस्था की थी। 'ठाकुर बिल्वमंगल' नाटक हो रहा था। गिरीशचन्द्र स्वयं 'ढोंगी साधक' के रूप में अभिनय करने मंच पर आये। जब वे थाकमणि को कृष्णप्रेम सिखाने पर अड़ गये, तो माँ ने हँसते-हँसते कहा – "इस उम्र में अब और क्यों?" फिर बिल्वमंगल का एकनिष्ठ प्रेम देखकर वे – "अहा ! अहा !" कर उठीं।

एक वृद्धा ब्राह्मणी गंगा के किनारे कामारहाटी में सागर दत्त के मन्दिर के एक कमरे में रहती थीं। उन्होंने ठाकुर को गोपाल रूप में देखा था और ठाकुर ने भी उन्हें माँ कहकर सम्बोधित किया था। माँ भी उन्हें सास के समान मानती थीं। भक्त लोग उन्हें 'गोपाल की माँ' कहा करते थे।

वे अत्यन्त वृद्ध हो गयी थीं तथा उनकी सेवा करनेवाला कोई नहीं था, यह देखकर भगिनी निवेदिता ने उन्हें १६, बोसपाड़ा लेन के बालिका विद्यालय में लाकर वहीं एक कमरे में रखा और उनकी परिचर्या के लिए एक स्त्री को नियुक्त कर दिया। गोपाल की माँ का दोनों समय का भोजन माँ के घर से जाता था। माँ उन्हें बीच-बीच में देखने भी जाती थीं।

गोपाल की माँ को कोई रोग न था। केवल अत्यन्त वृद्ध हो जाने के कारण ही चलने-फिरने में असमर्थ हो गयी थीं। इसलिए अन्तिम दिनों में उन्हें होश नहीं रहता था – कभी-कभी अनजाने में ही शौच-पेशाब भी हो जाता था। पर दो बातों में उनका बोध सदैव जाग्रत रहता। पहली तो थी उनकी जपमाला – माला हमेशा उनके हाथ में होनी चाहिए, नहीं तो छटपटातीं और चिल्लाने लगतीं। इसलिए माला सदा उनके हाथ में ही रहती थी। द्वितीयत: वे किसी को भी पहचान नहीं पाती थीं, लेकिन माँ के जाने पर न जाने कैसे पहचान लेतीं। तत्काल अस्फुट स्वर में कहतीं – "कौन, बहू? आओ।"

अस्तु। धीरे-धीरे उनकी नाड़ी का स्पन्दन धीमा पड़ने लगा। हृदय-गति बन्द होने को आयी। वैद्यराज के 'अब देर नहीं है' कहते ही भगिनी निवेदिता बोलीं, "ये हमेशा गंगातट पर रही हैं, अब इन्हें गंगातट पर ले जाना ही उचित होगा।"

उस समय रात का पहला पहर चल रहा था। उन्हें कुमारटोली में स्थित गंगायात्री-भवन के एक पृथक् कमरे में ले जाया गया। वहाँ जाकर उन्होंने करीब चार दिन निवास किया। माँ प्रतिदिन उन्हें देखने जातीं। उनके जाते ही गोपाल की माँ के दोनों नेत्र क्षण भर के लिए खुलते और फिर बन्द हो जाते। बाकी पूरे दिन-रात वे बन्द ही रहते। उनके हाथ में माला भी रहती, बीच-बीच में उस पर ऊँगलियाँ चलती रहतीं।

चौथे दिन रात के एक बजे उनके जीवन का अन्तिम क्षण आया जानकर वैद्यराज के आदेश से उन्हें गंगाजल में उतारा गया। देखते-ही-देखते उनकी प्राण-वायु निकल गयी।

पहले ही बता चुके हैं कि हम लोग बीच-बीच में माँ को घुमाने ले जाते थे। एक दिन उन्हें चितपुर रोड के बी. दत्त नामक फोटोग्राफर के स्टूडियो में ले जाया गया और पूर्व निर्धारित व्यवस्था के अनुसार उनके चार फोटो उतारे गये।

माँ के गाँव में प्रतिवर्ष देवी श्रीजगद्धात्री की पूजा होती थी। १३११ बंगाब्द (१९०५ ई.) की पूजा में माँ वहाँ नहीं गयीं। न जाने का कारण यह था कि उन्हें इस बार कलकत्ता आये एक साल भी नहीं हुआ था – इसी बीच फिर जाना और आना – और आने-जाने में खर्च भी तो कम नहीं लगता था – वे अकेली तो थी नहीं – उनके साथ उनके चाचा, राधू तथा उसकी माँ, माकू (माँ की दूसरी भतीजी), नलिनी, भानु बुआ भी जाते। इसके सिवा गाँव में उनका स्वास्थ्य भी बहुत खराब हो गया था – भक्तों का हार्दिक अनुरोध था कि कुछ दिन कोलकाता में रहने से उसमें सुधार होगा। अत: उनका जाना नहीं हुआ। उन्होंने लेखक को वहाँ भेजा। माँ के तीसरे भाई[१८] वरदाकुमार[१९] भी साथ गये। पूजा के कई दिन वहाँ रहकर मैं लौट आया। इस बार मैं तारकेश्वर के मार्ग से गया और घाटाल के रास्ते लौटा।

इस जगदात्री-पूजा के पीछे भी थोड़ा इतिहास है, जिसे यहाँ लिख रहा हूँ। अन्य स्थानों की भाँति माँ के घर में एक दिन की जगद्धात्री-पूजा नहीं होती। यहाँ तीन दिन पूजा होने के बाद चौथे दिन दुर्गापूजा की तरह मूर्ति-विर्सजन होता है। ऐसा होने का कारण बताया जा रहा है।

इसके पहले एक बार मैं सुधीर महाराज (स्वामी शुद्धानन्द) और स्वामी सोमानन्द के साथ घाटाल से पैदल विद्यासागर की जन्मभूमि वीरसिंह गाँव से होकर जयरामबाटी गया था। तब इस प्रकार जगद्धात्री-पूजा होते देखकर मैंने माँ से इसका कारण पूछा और उनके श्रीमुख से जो सुना, वह इस प्रकार है –

"पहली बार माँ की पूजा हुई। अगले दिन काली (माँ के मँझले भाई – कालीकुमार) ने पूछा, 'दीदी दधिकर्म की तैयारी करूँ?' मुझे याद आया कि आज गुरुवार है। मैंने मना कर दिया। मैंने कहा, 'आज तो गुरुवार है।' बात समझकर उसने उस दिन फिर माँ की पूजा करायी। अगले दिन फिर महीने का पहला दिन था – उस दिन भी अगस्त-यात्रा होने के कारण दधिकर्म करने को नहीं कह सकी। उसके अगले दिन निरंजन हुआ। तभी से माँ यहाँ तीन दिन पूजा ले रही हैं।"

इस बार जयरामबाटी से लौटने पर माँ ने बड़ी उत्सुकता के साथ पूजा के बारे में सारी बातें सुनीं।

इसके कुछ दिन बाद माँ के पुरी जाने की बात उठी। जाने का दिन निश्चित हो जाने के बाद दो दिन, दिन का समय सामान की खरीदारी में और रात को उनकी पैकिंग में बीता।

माँ के साथ उनके चाचा, राधू, छोटी मामी, नटी की माँ, चुनीबाबू (बलराम-भवन के पश्चिम में रहनेवाले ठाकुर के भक्त चुनीलाल बसु) की पत्नी, कुसुम[२०], गोलाप-माँ और लक्ष्मी दीदी चलीं। पुरुषों में बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द) और लेखक थे। रेलगाड़ी में द्वितीय श्रेणी का एक डिब्बा आरक्षित कराया गया, जिसमें माँ तथा उनकी संगिनियाँ बैठीं। हम तीन पुरुष इंटर क्लास में बैठे। बाबूराम महाराज के छोटे भाई शान्तिराम बाबू तथा गणेन्द्रनाथ हम लोगों को हावड़ा स्टेशन पर ट्रेन में चढ़ाने आये थे। रात भर ट्रेन में यात्रा करके अगले दिन सुबह हम पुरीधाम पहुँचे। वहाँ बड़े रास्ते अर्थात् श्रीमन्दिर के मार्ग पर स्थित (बलराम बाबू के) 'क्षेत्रवासियों का मठ' (नामक भवन) को हम लोगों के निवास हेतु खोल दिया गया था। बाबूराम महाराज समुद्र-तट पर स्थित बलराम बाबू के ही 'शशी-निकेतन' नामक एक अन्य भवन में ठहरे।

पुरी पहुँचकर माँ धूलभरे पाँवों से ही श्रीमन्दिर में देव-दर्शन को गयीं। बलराम बाबू के सुयोग्य पुत्र रामकृष्ण बसु (हम लोग उन्हें 'राम' कहकर सम्बोधित करते थे) ने पहले से ही सारी व्यवस्था कर रखी थी। वे इधर के ही जमींदार थे। माँ के श्रीमन्दिर में जाते ही वहाँ रत्नवेदी का स्थान खाली कर दिया गया। माँ ने वहाँ प्रवेश करके अपने हाथों से पहले अपने शिष्य-सन्तान (लेखक) और बाद में अपने चाचा का मस्तक रत्नवेदी से स्पर्श कराने के बाद सन्तान से बोलीं – "गुरु और इष्ट को एक देखना चाहिए।" बाद में बाकी सबने दर्शन किया। मन्दिर से प्रतिदिन हम लोगों के लिए महाप्रसाद आया करता था। ❖ **(क्रमश:)** ❖

---

१८. वस्तुत: वे माँ के चौथे भाई थे। माँ के दूसरे भाई उमेशचन्द्र की अल्प आयु में ही मृत्यु हो गयी थी। जिसके कारण चौथे भाई की तीसरे के रूप में गिनती होती थी। – सम्पादक

१९. उनका वास्तविक नाम वरदाप्रसाद था। – सम्पादक

२०. कुसुम कुमारी देवी। इन्हें स्वामी विवेकानन्द जी के सान्निध्य में आने का सुयोग मिला था। ये बालविधवा थीं और वाराणसी में रहती थीं। वे केदार बाबा (स्वामी अचलानन्द) के साथ जयरामबाटी में माँ के पास आयीं। बाद में उन्होंने माँ की सेवा भी की थीं। वे 'गोपाल की माँ' की मंत्रशिष्या थीं। गोपाल की माँ के चरणों में बैठी भगिनी निवेदिता का जो सुपरिचित चित्र है, उसमें पंखा हाथ में लिये गोपाल की माँ के सिरहाने बैठी महिला ही कुसुम कुमारी देवी हैं। – सम्पादक

आत्माराम की आत्मकथा (२५)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसके अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

वाराणसी के बाकी अनुभव

इसी बीच वे पूर्वोक्त सज्जन तथा ऋषीकेश के परिचित साधु ने वाराणसी में आकर मुझसे भेंट की थी। वे मुझे अपने घर ले गये और भिक्षा भी दी। उनका एक मकान सेवाश्रम के पीछे कामाक्षा की ओर जानेवाली सड़क पर स्थित था। वह खाली पड़ा है, यह सुनकर मैंने कहा – "यदि कोई आपत्ति न हो, तो मुझे कुछ दिन वहाँ रहने की अनुमति दें।" बड़ी प्रसन्नता के साथ उन्होंने मुख्य भवन से अलग एक पुराना टूटा हुआ कमरा दिखाकर कहा – "इसमें जितने दिन इच्छा हो, रह सकते हैं।" तथास्तु। अद्वैत आश्रम में उस समय बहुत भीड़ थी और रात को एक साथ सोना पड़ता था, अत: इच्छानुसार ध्यान-भजन करने की सुविधा न थी। अत: वहाँ रहने को राजी हो गया। विशेषकर वह मकान आश्रम के निकट ही था और उसमें पानी का नल भी था।

माधुकरी करके ही रहने का निश्चय किया। पहले तो नित्य विश्वनाथ के पीछेवाली गली में जाता। एक दिन सहसा मन में आया – देखूँ, बंगाली टोले में माधुकरी मिलती है या नहीं। ११ बजे से ३ बजे तक प्रत्येक बंगाली के द्वार पर जाकर – 'नारायण हरि' – किया। अनेक घरों से तो किसी ने उत्तर ही नहीं दिया और कहीं-कहीं कोई केवल पैसा देने आ गया। अन्त में एक वृद्धा सन्देश[1] लेकर अपने घर जाते हुए मिली। 'नारायण हरि' – कहते ही चार सन्देश देकर कहा – "बाबा, इतनी देरी से क्या कहीं भिक्षा मिल सकती है? जल्दी आना पड़ता है। नये हो क्या?" मैं बिना कुछ बोले चुपचाप सन्देशों को लेकर गंगातट पर गया और पुन: स्नान करके उन्हें खाकर भरपेट गंगाजल पीया।

इसके बाद अद्वैत आश्रम गया – कल राजा महाराज के दर्शन के लिये नहीं जा सका था। रास्ते में सोच रहा था – "कितने आश्चर्य की बात है ये लोग इतने दिनों से वाराणसी में हैं, इतने संन्यासी देखते हैं, उनके समपर्क में भी आते हैं, तो भी संन्यासी को भिक्षा देना नहीं जानते, केवल पैसे देने आते हैं। जूठा-बोध अधिक मात्रा में रहने से ऐसा है? या फिर प्रदेश का रिवाज और वैरागियों की शिक्षा से ऐसा हुआ है? मनुष्य तो देखकर भी सीख जाता है, परन्तु यहाँ तो नित्य इतना देखते हुए भी लकीर के फकीर बने हुए हैं। जाति के रूप में तो ये लोग इतने Conservative Brain (रूढ़िवादी बुद्धि के) नहीं है, तो ऐसा भाव क्यों है? लगता है कि वैरागी बाबाजी लोगों में जो रिवाज है, वही पूरे प्रदेश में दृढ़ीभूत हुआ है, इसीलिए संन्यासी को अन्न देना नहीं चाहते। (बंगाल से लेकर पूरे दक्षिणी भारत में कमोबेश यही प्रथा प्रचलित है। सर्वत्र रामानुजी तथा मध्व वैष्णवों का प्राधान्य है। जो लोग शंकर मत के संन्यासियों के घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं, उनमें से किसी-किसी ने सीखा है। लेकिन प्राय: देखने में आता है कि (बंगाली) संन्यासी उन्हें यह नहीं सिखाते हैं कि माधुकरी क्या है और किस प्रकार देनी चाहिए ! इस कारण देशाचार ही प्रबल रहता है। यदि आर्थिक अवस्था अच्छी हो, तो वे लोग जिद करके बैठाकर भोजन करायेंगे और नहीं तो कच्चा सीधा देंगे। बंगाल में इसका एक अन्य कारण है – मछली। जिस रसोई में आमिष खाना बना हो, कोई भी स्त्री उसमें पकाया हुआ भोजन संन्यासी को नहीं देना चाहेगी, क्योंकि वह उसे अस्वीकार भी कर सकता है। उनका ऐसा ही विश्वास है। फिर संन्यासी देवता को 'भात' भी भला कैसे दिया जा सकता है? शायद पुरोहितजी ने समझा रखा है कि वह महापाप है, विशेषकर वैरागी लोगों ने उनके मन में ऐसी धारणा बना रखी है।

हाय, जिन चैतन्यदेव ने जात-पात तोड़कर सब एक करने की चेष्टा की थी, अन्त में घोषणा की थी – 'भक्तों की जात नहीं होती', उन्हीं के अनुयायियों में जाति-विचार तथा खाद्य-समस्या विचार देखकर हँसी आती है। रामानन्द के शिष्यों की भी यही हालत है। उन्होंने कबीर, रैदास आदि की सृष्टि की, पर उनके अनुयाईगण सब कुछ मिलाकर द्राविड़ी ब्राह्मणों के चेले बन बैठे हैं। रामानुज का उदार मत था, पर उनके अनुयायीगण उसे बिलकुल नहीं मानते। उनके स्पर्श-अस्पर्श तथा त्रिविध दोषों का ऐसा दबाव है कि उन लोगों को वही लेकर सारे समय व्यस्त रहना पड़ता है और सारा 'धर्म' उनके लिये गौण हो गया है। उनमें से अधिकांश 'बहरमपुर' के उपयुक्त हैं। उन्हीं के माध्यम से बंगाल में छुआछूत का यह पाप घुसा है। मेरी दृढ़ धारणा है कि यह

[1] एक प्रकार की बंगाली मिठाई

एक विशुद्ध 'द्राविड़ी पाप' है। जैसे दो वर्ण – ब्राह्मण व शूद्र – यह भी उन द्राविड़ी पण्डितों ने बंगाल के मूर्ख राजा के द्वारा करवाया था। द्विवर्ण – राज्य-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था आदि की दृष्टि से बड़ा सुविधाजनक है। मेरी धारणा है कि यह सबसे बड़ा द्राविड़ी पाप है और यह भी उसी तरह बंगाल के समाज में प्रविष्ट हुआ है। वहाँ माधुकरी के लिये फिर प्रयास करूँगा, देखूँ क्या होता है !

अद्वैत आश्रम में पहुँचते ही चन्द्रबाबा ने कहा – "अजी, तुम्हारे लिए खीर रखी है। महाराज तुम्हारे बारे में पूछ रहे थे और उन्हीं के आदेश से रखी हुई है। उसे खा लो भाई – अरे, ओ... कोई है?" (चन्द्रबाबा वातरोग के कारण चल-फिर नहीं सकते थे)। सेवक के आते ही उसे खीर देने को कहा। मात्रा काफी थी, पेट भर गया। उनकी अपार करुणा है। राजा महाराज ने मुझे देखते ही कहा – "क्यों रे, कैसा है? दो दिनों से तुझे देखा नहीं। खीर खाई है? – "जी हाँ" – "माधुकरी कर रहा है न? माधुकरी का अन्न पवित्र होता है।"

अगले दिन फिर बंगाली मुहल्ले में भिक्षा मागूँगा – ऐसा संकल्प करके निकला। लक्ष्मीकुण्ड तथा उसके पास के करीब प्रत्येक बंगाली घर में 'नारायण हरि' कर रहा था। परन्तु हालत पिछले दिन जैसी ही, बल्कि उससे भी बुरी थी, क्योंकि कोई पैसे तक देने को नहीं आया, केवल आँखें फाड़-फाड़कर देखते, पर समझ नहीं पाते कि बात क्या है !

आखिरकार लगभग एक बजे अद्वैत आश्रम के सामनेवाली गली में घुसा – परिचित घरों को पीछे छोड़ एक नये घर के सामने जाकर जैसे ही कहा – 'नारायण हरि' – ऊपर से एक स्नेह-भीना मुख दिखाई पड़ा – "महाराज, आज धन्य हुई, कितने दिनों से आपको एक बार हमारा घर देखने के लिये आने को कह रही थी, परन्तु आप नहीं आये। बहुत अच्छा हुआ। ठहरिये, मैं आती हूँ !"

पकड़ा गया पवित्र-जननी बंगाली-माँ के हाथों। बचने का कोई उपाय नहीं। मुझे पता नहीं था कि यह उन्हीं का घर है। इसके पूर्व कभी उस गली में गया नहीं था। द्वार खोलकर – "आइये, भीतर आइये। हमारा घर नहीं देखेंगे?"

मैं – "अभी तो नहीं देख सकूँगा। माधुकरी करने को निकला हूँ, फिर कभी आऊँगा !"

– "माधुकरी ! यह क्या है, महाराज?"

मैं – "संन्यासी लोग मधुमक्खी की भाँति कई मकानों से थोड़ा-थोड़ा-सा अन्न लेकर अपनी उदरपूर्ति या जीवन-धारण करते हैं। पका हुआ रोटी-भात ही अन्न है। मधुमक्खी या मधुकर जैसी वृत्ति होने के कारण इसे माधुकरी कहा जाता है। शास्त्रों के मतानुसार यह बड़ा पवित्र अन्न है। किसी एक पर बोझ बनकर न रहना पड़े, सम्भवत: इसलिए यह प्रथा प्रचलित है। संन्यासी आकर कहते हैं – 'नारायण हरि'। यह वैसा ही संकेत-शब्द की तरह है, जैसे बंगाल में वैष्णव "हरे कृष्ण' बोलकर उसके साथ यह भी कहते हैं – "माँ भिक्षा मिले।" संस्कृत में ऐसा ही विधान है, लेकिन संन्यासीगण उतना नहीं बोलते, क्योंकि इससे माँगना हो जायेगा। अत: केवल 'नारायण हरि' मात्र कहते हैं। तब घर में जो भी अन्न हो, उसी में से थोड़ा-सा दिया जाता है। इस अंचल में सभी गृहस्थों के घर में पहली रोटी और थोड़ी-सी दाल-सब्जी पहले से ही उठाकर रख लेते हैं। वही संन्यासी को देते हैं। यदि कोई संन्यासी न आये, तो किसी भिक्षुक या अन्त में गाय को खिला देते हैं। इस तरह जूठा होने से पूर्व ही पवित्र अन्न को उठाकर रख देते हैं। किसी-किसी घर में गृहदेवता को भोग देने के बाद उसी में से थोड़ा-सा उठाकर रख देते हैं। पर पूर्वोक्त प्रथा ही अधिक प्रचलिच है, क्योंकि वेदान्त-वादी संन्यासी कभी-कभी देवता का भोग लेना नहीं चाहते।

बंगाली माँ – "महाराज, यह बात तो आज ही ज्ञात हुई। किसी ने बताया नहीं और कोई आये भी नहीं। बताइये कैसे जानती? अच्छा, चलिए – आसन देती हूँ।"

मैं – "नहीं, नहीं, आसन नहीं चाहिए। यह जो झोली देख रही हैं, जो हो इसी में डाल दीजिये।"

लेकिन मातृमूर्ति बंगाली-माँ भला वह सब कहाँ सुनने वाली थी। बहुत-से पीठे, खीर, भात, तरकारी, मिठाई आदि लेकर उपस्थित हुई। लेना ही होगा। आज तो लेना ही पड़ेगा, दूसरे दिन भले ही कम मात्रा में देंगी। हार मानकर झोली में सब ले लिया, कटोरी भरी खीर भी। उन्होंने बता दिया कि चिन्ता की कोई बात नहीं है, कटोरी वे चन्द्रबाबा के पास से स्वयं ले आयेंगी।

लगभग डेढ़ बजे अद्वैत आश्रम में घुस रहा था, देखा – राजा महाराज बरामदे में खड़े होकर देख रहे हैं। निकट पहुँचते ही बोले – "क्यों रे, माधुकरी है क्या? ले आ, ले आ देखूँ !" देखकर थोड़ा-सा लेकर कहा – "वाह ! अद्भुत ! ओ चन्द्र, तुम सभी लोग थोड़ा-थोड़ा खाओ। थोड़ा-थोड़ा सबको दो। पवित्र अन्न है !"

मैंने सबको दिया और आनन्दपूर्वक आश्रम का प्रसाद भी ग्रहण किया। इसके बाद से बंगाली-माँ सबको – साधुओं को भी माधुकरी के विषय में बताने लगीं। तब अनेक भक्तों के घर से माधुकरी के लिये निमंत्रण आने लगा। फिर बाध्य होकर कुछ दिनों तक विभिन्न घरों से लेना पड़ा था, लेकिन राजा महाराज के मद्रास जाने के पश्चात् बन्द कर दिया। जाता भी, तो उसी विश्वनाथ की गली में जाता। इसका कारण यह था कि ये लोग परिचित थे और विशेष-विशेष चीजें बनाकर माधुकरी में देने लगे थे। यह सुविधाजनक नहीं था और संन्यासी के लिए उचित भी नहीं था।

राजा महाराज मद्रास (चेन्नै) जायेंगे। स्वामी शर्वानन्दजी

उन्हें लेने आये हैं। मुझे वहाँ सेवाश्रम में रखने की चेष्टा चल रही थीं – सुना कि पूज्य सुधीर महाराज ने उन लोगों की ओर से राजा महाराज से अनुरोध किया है। फिर बूढ़े बाबा (स्वामी सच्चिदानन्दजी) का सेवक क्षी छुट्टी माँग रहा था, अत: उन्हें सेवक चाहिए। उन्होंने मुझे सेवक के रूप में पाने के लिए पूजनीय शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्दजी) को पकड़ा है – "आपके कहते ही वह राजी हो जायेगा।" मैं (किरन बाबू के घर) उन्हें प्रणाम करने गया, – "यह देखो, आ गया !" (वहाँ शायद सान्याल महाशय भी बैठे थे)।

पूज्य शरत् महाराज – "बूढ़े बाबा तुम्हें माँग रहे हैं। उनका सेवक छुट्टी में जाना चाहता है। तुम कर सकोगे?"

मैं – "जी, मेरे मन में इस समय एकान्त में रहकर साधन-भजन करने की इच्छा ही प्रबल है। यह मन लेकर सेवा करने से अनेक त्रुटियाँ हो सकती हैं। मैं नहीं चाहता कि मेरे कारण वे कष्ट पायें या रुष्ट हों। इसीलिये ...।"

पू. शरत् महाराज (बूढ़े बाबा से) – "सुन लिया न ! अब तुम्हें जो कहना हो, स्वयं ही कहो।"

इस पर बूढ़े बाबा चुप ही रह गये।

थोड़ी देर बाद राजा महाराज के दर्शन करने गया, तो देखा कि बूढ़े बाबा वहाँ सहज भाव से बैठे हुए मेरी ओर देख रहे हैं। मैं तो आशंकित हो उठा। अन्तर में नर्मदा-तट पर तपस्या करने की प्रबल इच्छा थी। लगा कि सब गया। थोड़ी देर बाद सुधीर महाराज (स्वामी शुद्धानन्दजी) आये। सोचा – बस, इसी की कमी थी। लगा – सब पूर्व-नियोजित है।

मैंने पहले से ही सोच रखा था कि राजा महाराज से नर्मदा के बारे में कहूँगा। बोला – "महाराज, सुना है कि आपने तथा पूज्य हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्दजी) ने कुछ काल नर्मदा के तट पर तपस्या की थी। सुना है होशंगाबाद के पास ही कहीं थे। वह स्थान क्या बड़ा अच्छा है?"

राजा महाराज – "नर्मदा का किनारा अद्भुत है। देखो, व्यक्ति काशी में जप करने से जल्दी सिद्ध होता है और नर्मदा-तट पर ध्यान से सिद्ध होता है।"

मैं – "मेरी एक बार उधर जाने की इच्छा है।"

महाराज – "अच्छा ही तो है !"

पूजनीय सुधीर महाराज – "महाराज, उसे कुछ दिन सेवाश्रम में काम करने को कहिये। आपके इस प्रकार कहने पर क्या वह और कुछ करेगा?"

राजा महाराज कोई उत्तर न देकर ऊपर की ओर दृष्टि किये बैठे रहे।

बूढ़े बाबा – "मेरे लिए एक सेवक चाहिए, आपके कहने से ही तो वह करेगा।"

राजा महाराज मौन रहे। वे उसी भाव में बैठे रहे और बड़े गम्भीर हो गये। इतने गम्भीर हो गये कि कमरे में उपस्थित सभी लोग धीरे-धीरे कमरे से बाहर आ गये। किसी को बैठे रहने का साहस नहीं हुआ। वे इतने गम्भीर स्वभाव के थे कि उनके गम्भीर हो जाने पर किसी में सामर्थ्य न थी कि उनके साथ बातें कर सके। मेरी तो खुशी का ठिकाना न रहा।

सुधीर महाराज नीचे के बरामदे में खड़े-खड़े सेवाश्रम के एक कर्ता को जोर की आवाज में कह रहे थे – "क्या करूँ? मैं प्रयास करके किसी को लाता हूँ और ये उसे तपस्या के लिए भेज देते हैं। देखो न, जपानन्द को नर्मदा जाने की अनुमति दे दी और इधर ...।"

ठीक तभी राजा महाराज कमरे से निकलकर बरामदे में आये। सम्भवत: यह सब सुनकर ही वे आये थे। बोले – "क्या करूँ, सुधीर महाराज ! यदि कोई ठीक-ठीक तपस्या करने के लिए जाना चाहता है, तो मैं उसमें बाधक नहीं बन सकता, इससे तुम लोगों का चाहे जो भी हो।" – इतना कहकर वे पुन: कमरे में चले गये। सभी चुप रह गये।

इसके बाद खूब तर्क-वितर्क चला – What is first? Work or worship? (पहले कर्म करना चाहिये या साधना) या फिर एक साथ दोनों ही? बड़ी जोरदार बहस हुई। दोनों पक्ष ही अटल थे। बाद में पूज्य हरि महाराज से इस विषय में निर्णय करने की प्रार्थना की गयी। उन्होंने कहा – "दोनों एक साथ ही होना चाहिए। स्वामीजी का यही मत है – 'Work is Worship' (कर्म ही उपासना है)।" प्रश्न उठा – "तो फिर उन सबने क्यों तपस्या की थी? ठाकुर क्यों कहते थे कि कर्म घटाओ ताकि मन ईश्वर की ओर जाये।" अन्त में सभी इस निष्कर्ष पर पहुँचे – "प्रारम्भ में चित्तशुद्धि के लिये कर्म – निष्काम कर्म अर्थात् सेवा आदि की जरूरत है। उस समय 'Work is Worship' (कर्म ही उपासना है)। उसके बाद केवल Worship (उपासना)। जब मन प्रभुमय – ब्रह्ममय हो जाता है; तीव्र वैराग्य, ईश्वर-दर्शन या ब्रह्म-प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा होने पर, फिर कर्म अच्छे नहीं लगते। उसके बाद सिद्ध होने पर स्वेच्छा से बहुजन हिताय कर्म किया जा सकता है। तब उससे बन्धन या मलिनता का भय नहीं रहता। जिसकी प्रज्ञा ऋतम्भरा हुई है, उसकी कभी भूल नहीं होती। केवल तभी बहुजन हिताय ठीक-ठीक कर्म करना सम्भव होता है। अन्यथा दम्भ, मान, अभिमान, आसक्ति, मालिन्य आदि के प्रवेश का भय रहता है।" मेरे विचार से सबके लिए एक ही व्यवस्था नहीं हो सकती और इसका क्रम-सापेक्ष होना ही उचित है।

एक विषय में कुछ नहीं कहा गया, पर वह मेरे अन्तरम प्रदेश में आज भी उसी तरह विद्यमान है और इस जीवन में

जब तक उसे पूरा न कर लूँ, सम्भवत: भूल भी नहीं सकूँगा।

संन्यास के दो-तीन दिन बाद प्रात:काल ऊपर के बरामदे में राजा महाराज के कमरे के सामने खड़ा था। वे कहीं बाहर गये हुए थे। लौटकर कमरे में जाने के पूर्व सहसा मुझसे बोले – "देख, भुवनेश्वर के लिए दो हजार चाहिये। क्यों कर सकेगा न? कम-से-कम एक हजार! छोडूँगा नहीं।"

मैंने कहा – "महाराज! मेरे पास तो कुछ भी नहीं है और घर के लोगों के साथ कोई सम्पर्क भी नहीं है और मैं रखता भी नहीं, पर उनकी इच्छा से यदि आ जाये, तो अवश्य दूँगा।" राजा महाराज – "बस! इसी से हो जायेगा।"

अब तक तो सम्भव नहीं हुआ और पता नहीं कभी होगा भी या नहीं। सब जगदम्बा की इच्छा पर निर्भर है। उन्हीं के हाथों में यह जीवन है और उन्हीं के हाथों में सब कुछ है। उनकी इच्छा हो, तो अपने आप आसानी से मिल जायेगा और मैं उसे तत्काल देकर इस ऋण से मुक्त हो सकूँगा। पर किसी से माँग नहीं सकूँगा। यह बात याद आते ही मन में न जाने कैसा होने लगता है, सारा आनन्द लुप्त हो जाता है।

इसीलिए १९२६ ई. में जब मैं पुरी-धाम गया और कुछ दिन वहाँ ठहरा, तो भुवनेश्वर नहीं गया। यह बात याद आते ही हृदय में एक अव्यक्त पीड़ा का बोध करता हूँ। जगदम्बा क्या मुझे इस ऋण से मुक्त नहीं करेंगी? द्वार-द्वार पर घूमकर रुपयों की भिक्षा माँगने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है और उन्होंने भी दिया नहीं। यह बात सोचते ही भीतर से संकुचित हो उठता हूँ। मानो सिर कट जाता है। इतना ही कर सकता हूँ और अब भी ऐसी ही मनोवृत्ति है। और जगदम्बा के श्रीचरणों में प्रार्थना है कि आखिर तक इसकी रक्षा करें। जगदम्बा देने से ही दूँगा। यह सब लेना-देना उन्हीं के हाथों में है।[२]

एक दिन एक अन्य घटना हुई थी, जिससे मन में बड़ा दु:ख हुआ था। अपराह्न का समय था। राजा महाराज के सामने बैठा था। सहसा वे बोले – "मेरे लिये हुक्का बनाकर ले आ तो!" चिलम लेकर उसमें तम्बाकू सजाने लगा। उन दिनों पेतापुरी उनके सेवकों में एक था और वही यह सब कार्य करता था। वह दौड़ता हुआ आया और मेरे हाथ से चिलम छीनकर बोला – "आपसे नहीं होगा, आप तो जानते नहीं, लाइये मैं सजा दूँ। आप चाहें तो उसे ले जाना।" मैंने कहा – "उनका आदेश है, मुझे ही करने दो।" लेकिन पागल जैसा तो वह था ही, करने ही नहीं दिया। भय था कि शोरगुल होने से कहीं वे नाराज न हो जायँ, इसलिए मजबूरन चुप रहा। पेतापुरी ने चिलम तैयार करके मुझे दिया और मैंने ले जाकर उसे हुक्के में लगा दिया। दो-चार कस लेते ही महाराज समझकर बोले – "यह तो तेरा तैयार किया हुआ नहीं है!" ओह, हृदय को कितनी चोट पहुँची थी! लेकिन मैं यह सब कह नहीं सका कि पेता ने तैयार नहीं करने दिया था, बलपूर्वक छीन लिया था। मन की व्यथा मन में ही रही – रात को एकान्त में खूब रोया।

शायद तीसरे दिन[३] पूजनीय राजा महाराज मद्रास की ओर रवाना हो गये। मैं वाराणसी में, उसी पूर्वोक्त बगीचे के मकान में कुछ दिन और रहा। महाराज के जाने के बाद शाम को पाठ के समय कभी-कभी पूजनीय हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्दजी) के पास जाता था। उन दिनों स्वामी कमलेश्वरानन्द श्रीमद्-भागवत का पाठ और पूजनीय हरि महाराज बीच-बीच में व्याख्या करते या किसी प्रश्न-विशेष का उत्तर देते थे। अच्छा लगता था। काशी में और भी अनेक 'अनुभव' हुए थे, पर वे अनावश्यक प्रतीत होने के कारण उन्हें लिपिबद्ध नहीं कर रहा हूँ, क्योंकि उनके द्वारा मेरा जीवन प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं हुआ था, अत: वे अप्रासंगिक हैं।

२. काफी काल बाद पूरा हुआ। जगदम्बा की कृपा से एक हजार रुपये बेलूड़ मठ की मार्फत भुवनेश्वर के मठ को भेजने में समर्थ हुआ था।

३. महाराज ने १५ मार्च १९२१ को वाराणसी से प्रस्थान किया था।

❖ (क्रमश:) ❖

दैवी सम्पदाएँ (४) दान

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

मनुष्य जिन गुणों को लेकर अवतरित होता है, उनमें से एक दान है। दानशीलता मनुष्य का दैवी गुण है, इसीलिए गीता ने दान को दैवी सम्पति में समाविष्ट किया है। दान स्वोपार्जित या निसर्गत: प्राप्त वस्तु का स्वेच्छा से प्रसन्नतापूर्वक किया गया त्याग है। अपेक्षी, अभावग्रस्त और लाचार तथा संस्कृति को समर्पित व्यक्तियों के लिए अपनी विभूतियों का नि:स्वार्थ भाव से श्रद्धामय समर्पण है। स्वर्गादि प्राप्ति की कामना से संप्रेरित उत्सर्ग है। समाजिक दायित्व-बोध और मानवीय संवेदना से संकल्पित वस्तुओं का वितरण है। समाज से उपार्जित निधियों का समाज की ही सेवा में प्रत्यर्पण है। लोक-कल्याण हेतु ज्ञान एवं तप की साधना में निरत जन के लिए दान सामाजिक दायित्व का निर्वहन है। यह समतावादी सामाजिक संरचना का आधार और विग्रहमूलक संग्रह की दुर्वासना के विपरीत अपरिग्रह का प्रतीक है। यह वित्तैषणा के निग्रह का उपाय, लोकोन्मुखी चेतना का सम्प्रेषण, भौतिक सुख-साधनों की नि:सारता का अभिव्यञ्जन, मानवीय उदात्तता का निदर्शन और दैवी मूल्यों का अवतरण है। इसीलिये भगवान श्रीकृष्ण ने इसे दैवी सम्पत्ति का अभिधान दिया है।

दान मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। प्रकृति का अनिवार्य गुण है। प्रकृति अपनी विभूतियों को जीवमात्र के लिए बिना किसी कृपणता, संकोच, भेदभाव और स्वार्थ के अनवरत वितरित करती है। कन्द, मूल, पुष्प, फल आदि प्रकृति की उदारता का दान है। कल-कल करती सरिताएँ, झर-झर झरते निर्झर, प्राणों का संचार करती स्पन्दनशील वायु, जगत् को आलोकित करता सूर्य, औषधियों में रस उड़ेलनेवाला चन्द्र, क्षमारूपा माता धरित्री, अमृतवर्षी मेघ, तरु-लताएँ दान में निरत हैं। भागवती चेतना से सम्पन्न मनुष्य भी उसी प्रकृति का अंग है। वह दान की महिमा न केवल स्वीकार करता है, अपितु उसे अपने जीवन की पूर्णता भी मानता है। विशाल मन्दिर, आलीशान मस्जिदें, चर्च, गुरुद्वारे, धर्मशालाएँ, औषधालय, अनाथालय, विद्यालय, नदियों के मनोरम घाट, नारायण-सेवा, महत्त्वपूर्ण समाजसेवी संस्थान और अनेक सामाजिक संस्थाएँ मनुष्य की दानशीलता के ज्वलन्त उदाहरण हैं। दान उसका निजी गुण है। अतएव देने में उसे जितना आनन्द आता है, उतना लेने में नहीं। देव का देवत्व भी देने के कारण है। वह देता है, इसलिए देव है। देनेवाला मनुष्य भी देव है और दान उसकी सम्पत्ति है, गुण है।

दान का अर्थ उत्कोच = रिश्वत भी है। वह राजनीति का एक अंग है। पर दान धर्म से, मानव की नैतिक चेतना से सम्बद्ध है। इसका महत्त्व धर्मशास्त्रों में वर्णित है – दान से मनुष्य वश में हो जाते हैं, शत्रु भी नष्ट हो जाते हैं, पराये अपने हो जाते हैं और अनेक व्यसन समाप्त हो जाते हैं –

दानेन भूतानि वशीभवन्ति,
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम्।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानैः
दानं हि सर्व-व्यसनानि हन्ति ।।

वेदों का आदेश है – **शतहस्तः समाहर सहस्रहस्तः संकिर** – "सौ हाथों से कमाओ, हजार हाथों से बाँटो।" तैत्तिरीय उपनिषद् में है – **श्रद्धया देयम, अश्रद्धया देयम्, श्रिया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम्, संविदा देयम्** – "श्रद्धा से दो, श्री से युक्त होकर दो, लोक-लज्जा से दो, भय से दो, प्रतिज्ञावश दो।" अभिप्राय यह है कि जैसे भी हो, दान अवश्य दो। धन की तीन ही गतियाँ हैं –

दानं भोगो नाशस्तिस्त्रो गतयो भवन्तिवित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति।।

अर्थात् – **धन की गति तो तीन हैं, दान, भोग और नाश।**
दान भोग जो ना करै, निश्चय होय विनाश ।।

दान में तीन प्रमुख पक्ष हैं – दाता, आदाता और देय वस्तु। इनके अतिरिक्त देश और काल के दो पक्ष और हैं, जिनका सम्बन्ध उक्त तीनों पक्षों से है। प्रथमतया दाता को निरहंकार होना अपेक्षित है। यदि देनेवाले में दातृत्व का अहं आ गया और आदाता की भावना को आघात पहुँचा, उसमें हीनता का बोध जाग्रत हुआ, तो दान की गरिमा चली जाती है। दाता समझे कि उसके द्वारा दिया जानेवाला दान अनुग्रह
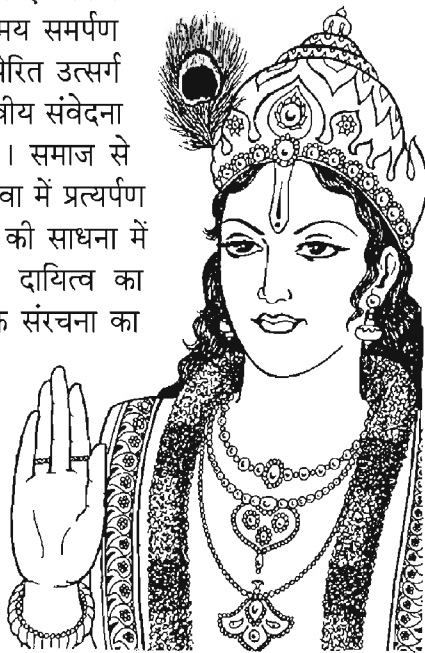
नहीं, बल्कि उसका सामाजिक दायित्व है। उसे लोकैषणा से विमुख होना भी आवश्यक है। यदि वह देकर ढिंढोरा पीटता है, यश-कामना करता है, तो उसका दान नष्ट हो जाता है –

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात्।
आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात्।। मनु.

– झूठ बोलने से यज्ञ, विस्मय से जप, विद्वानों को अपशब्द बोलने से आयु और ढिंढोरा पीटने से दान नष्ट हो जाता है।

अत: व्यक्ति दान देकर प्रचार न करे – **दत्वा न परिकीर्तयेत्**। इस्लामी हदीस में लिखा है – "जो शख्स इस तरह सदका (चढ़ावा) को छिपाकर देता है कि सीधे हाथ की उलटे हाथ को खबर नहीं होती, तो यह शख्स कयामत में अल्लाह के तख्त के साये में होगा।"[१] ईसाइयों के धर्मग्रन्थ पवित्र बाइबिल में यही बात इस प्रकार से कही गई है – 'जब तुम दान दो, तब इसका ढिंढोरा न पीटो, जैसे पाखण्डी मनुष्य सभागृहों और गलियों में करते हैं, ताकि लोग उनकी प्रशंसा करें, जब तुम दान दो, तब वह इतना गुप्त हो कि तुम्हारा बायाँ हाथ भी न जाने कि दाहिना हाथ क्या कर रहा है!"[२] इस प्रकार दाता में अहंकार, प्रत्युपकार की आकांक्षा और एक के बदले चार पाने की लालसा भी नहीं होनी चाहिए।

आदाता वह पात्र है, जिसे दान दिया जाता है। यदि वह सुपात्र है, तभी दाता का दान फलीभूत होगा। अपात्र को चाहे कितना भी दान दिया जाय, पर वह सब उसी प्रकार व्यर्थ हो जाता है, जैसे राख में घी की आहुतियाँ व्यर्थ हो जाती हैं –

अपात्रेभ्यस्तु दत्तानि दानानि सुबहून्यपि।
वृथा भवन्ति राजेन्द्र भस्मान्याज्याहुतिर्यथा।।(महाभा.)

आदाता में दान को झेलने की शक्ति होनी चाहिए। अन्यथा उसे गम्भीर क्षति उठानी पड़ सकती है –

संसारी के टूकड़े, बड़े-बड़े लम्बे दाँत।
भजन करे, तो ऊबरें नातर काढ़ैं आँत।।

आदाता को विद्यावान् और तपस्वी होना चाहिए। केवल विद्या या तप से उसकी पात्रता की परीक्षा नहीं हो सकती, क्योंकि विद्यावान् होने पर वह दुराचारी हो सकता है और अविवेक से किया गया उसका तप पाखण्ड हो सकता है। अत: इन दोनों के होने से ही उसकी पात्रता हो सकती है –

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम्।।

पात्र-अपात्र का विवेक ऐसा है जैसे गौ और सर्प का। गौ को आप जो भी खिलायेंगे, उससे दूध बनेगा और सर्प को दूध पिलायेंगे, तो उससे विष बनेगा। वैसे ही सुपात्र दातव्य वस्तु का सदुपयोग करेगा और कुपात्र दुरुपयोग। कुपात्र द्वारा दुराचार में धन खर्च होने से दाता को पाप लगेगा। महाभारत (अनुशासन पर्व, २२/३३-३७) में दानपात्र के गुणों का उल्लेख है – उसे अक्रोधी, धर्मपरायण, सत्यनिष्ठ, इन्द्रिय-संयमी, अमानी, सहिष्णु, दृढ़निश्चयी, जितेन्द्रिय, सर्व जीवों के हित में संलग्न, सबका मित्र, अलोलुप, शुचि, लज्जाशील विद्वान्, सत्यवादी, स्वकर्म-निरत, वेदपाठी और षट्कर्मों के निष्पादन में तत्पर होना चाहिए। दान ऐसे ही पात्र को दिया जाय। आदाता को वही और उतना ही लेना चाहिए, जो और जितना जरूरी है, क्योंकि दाता का हाथ ऊँचा होता है और आदाता का नीचा। नीचा हाथ करने की अपेक्षा मरना अच्छा है –

तुलसी करतें कर करै, तो निज मरन करै।

देय वस्तु की उपयुक्तता भी विचारणीय है। यह नहीं कि अनुपयोगी वस्तु को दान में दे दिया, खोटा सिक्का महादेव को चढ़ा दिया और दानी बन गये। नचिकेता ने देखा – पिता यज्ञ में ऐसी गायें दे रहे हैं, जो बहुत बूढ़ी हो चुकी हैं। वे न चल पाती हैं और न चारा खा सकती हैं। उनके प्रजनन तथा दूध देने की तो बात ही दूर! बालक नचिकेता बहुत दुखी हुआ। उसने कहा – पिताजी, यज्ञ के नियमानुसार आप तो सर्वस्व दान कर रहे हैं, तो आप मुझे किसको दे रहे हैं?" पिता ने नाराज होकर उसे यमराज को दे दिया। बालक नचिकेता ने अनुपयोगी वस्तु देनेवाले अपने पिता का विरोध किया; क्योंकि वह दान में देय वस्तु की महत्ता समझता था। देय वस्तु की उपयोगिता के साथ ही दाता के पास उसका आगम भी शुद्ध रूप से होना चाहिए। श्रमार्जित वस्तु के दान से ही दाता और आदाता को फल मिलता है। जो व्यक्ति दूसरे का धन हरण करके, अन्याय से धन कमाकर दान-धर्म करता है, वह दाता नरक को जाता है, क्योंकि जैसी जिसकी कमाई होती है, वैसा ही उसका फल होता है –

अपहृत्य परस्यार्थान् यः परेभ्यः प्रयच्छति।
स दाता नरकं याति यस्यार्थस्तस्य तत्फलम्।।

लोभी आदाता यदि यह मानकर कि 'दान की बछिया के दाँत नहीं देखे जाते' पापार्जित वस्तु का दान लेता है, तो उसके सारे पुण्यों का क्षय हो जाता है और उसे नरक मिलता है। अत: महाराज मनु ने – **विशुद्धच्च प्रतिग्रहः** – कहकर आदाता को चेतावनी दी है। यो शास्त्रों ने तीर्थों में देश की और पुण्य-पर्वों में काल की पात्रता का निर्वचन किया है, पर देश-काल की पात्रता का तात्पर्य यह भी है कि जिस स्थान पर जिस समय जो वस्तु उपलब्ध हो और आदाता को जैसी आवश्यकता अनुभूत हो, उसी का दान किया जाय। यह विचार न किया जाय कि इस समय यहाँ मेरे पास अमुक वस्तु तो नहीं है, यदि होती दो दान करता। उदाहरण-स्वरूप एक बार बाढ़ के कारण कुछ लोग बेघर-बार हो गये। एक समाजसेवी उसकी सहायता के उद्देश्य से पहले एक लखपति

---

१. 'बुखारी : जन्नत की कुंजी', मौलाना अहमद सईद, अनुवादक – अजहर अली, पृ ७९ २. नया नियम, मत्ती, ६/२-३, पृ. ९

सेठ के यहाँ पहुँचे। सेठजी शरीर से कुछ लाचार थे, बोले – क्या करूँ, शरीर ही साथ नहीं देता! स्वस्थ होता, तो कुछ करता। समाजसेवी ने कहा – सेठजी, शरीर से न सही, धन से तो सेवा कर ही सकते हैं। इसके बाद वह शरीर से स्वस्थ, परन्तु आर्थिक दृष्टि से कमजोर व्यक्ति के पास गया। उसने कहा – क्या करूँ, आज मेरे पास पैसा होता, तो कुछ करता। समाजसेवी ने कहा – आप शरीर से तो स्वस्थ हैं। शरीर से ही कुछ सेवा कीजिये। अभिप्राय यह है कि जो नहीं है उसका रोना छोड़कर, जो है उसी को दिया जाय।

गीता में सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का दान निरूपित है। जो दान देश, काल और पात्र का विचार कर अनुपकारी के लिए दिया जाता है, वह सात्त्विक है। प्रत्युपकार और फल को लक्षित कर दिया जानेवाला दान राजस, और देश-काल के विचार के बिना असत्कार तथा अपमानपूर्वक अपात्र को दिया जानेवाला दान तामस है –

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद् राजसमुदाहृतम्॥
अदेशकाले यद्दानम् अपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत् तामसमुदाहृतम्॥ १७/२०-२२

दान में कौन-कौन-सी वस्तु दी जाय? इसका आकलन न सम्भव है और न आवश्यक ही है। यह दाता की इच्छा पर निर्भर है कि वह कौन-सी वस्तु देता है। अन्न, वस्त्र, जल, भूमि, गौ, औषधि, वाहन, अलंकार और विद्या आदि के दान का अनुमोदन शास्त्रों ने किया है – गाय या भैंस का दूध, वाटिका के पुष्प, विद्या, कुएँ का जल और धन आदि दान से नित्य वृद्धि पाते हैं और अदान से विनाश –

गोदुग्धं वाटिका-पुष्पं विद्या कूपोदकं धनम्।
दानाद् विबर्द्धते नित्यम् अदानाच्च विनश्यति॥

जो मनुष्य जलाशय वृक्ष, विश्रामगृह और मार्ग में सेतु बनवाते हैं, वे सभी को अपने वश में कर लेते हैं –

जलाशयाश्च वृक्षाश्च विश्रामगृहमध्वनि।
सेतुः प्रतिष्ठितो येन तेन सर्वं वशीकृतम्॥

किस प्राणी को क्या देना चाहिए, इस विषय में कहा है – रोगी को औषधि, थके हुए को आसन, प्यासे को जल और भूखे को भोजन देकर सन्तुष्ट करना चाहिए –

देयं भेषजमार्तस्य परिश्रान्तस्य चासनम्।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम्॥

सब दानों में अन्नदान श्रेष्ठ है – हर कल्प में परमात्मा अन्न से ही सम्पूर्ण प्राणियों की सृष्टि करता है, अतः अन्नदान परम दान है। इससे श्रेष्ठ दान न हुआ है और न होगा।

यस्मादन्नात्प्रजाः सर्वाः कल्प कल्पेऽसृजत् प्रभुः।
तस्मादन्नात्परं दानं न भूतं न भविष्यति॥

अन्नदान निःसन्देह परम दान है, परन्तु विद्यादान उससे भी उत्तम है, क्योंकि अन्न से क्षणिक तृप्ति होती है, जबकि विद्या से तो जीवन पर्यन्त तुष्टि मिलती है –

अन्नदानं परं दानं विद्यादानमतः परम।
अन्नेन क्षणिका तृप्तिर्यावज्जीवन्तु विद्यया॥

अतः मनु की उक्ति है – जल, अन्न, गौ, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण, घृत आदि संसार में जितने दान हैं – इन सब की अपेक्षा विद्यादान ही सर्वश्रेष्ठ है, अतः सर्वात्मना इसकी वृद्धि का प्रयास होना चाहिए –

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते। (मनुस्मृति)

एक दान इससे भी श्रेष्ठ है और वह है अभयदान। संसार में दुष्ट लोग निर्बलों पर अत्याचार करते रहते हैं। अतः निर्बल को उनके अत्याचारों से संरक्षित कर उसे अभयदान देना पुनीत कार्य है – जो दयालु मनुष्य सभी प्राणियों को अभयदान देता है, उसे कभी किसी से भय नहीं होता –

अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः।
तस्य देहाद् विमुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित्॥

आज के सन्दर्भ में रक्तदान, नेत्रदान, हृदयदान आदि भी महत्त्वपूर्ण दान हैं। महर्षि दधीचि ने अपनी अस्थियाँ देवराज इन्द्र को दान कर दी थी, ताकि उनसे वज्र निर्मित होकर वृत्रासुर का वध हो और देव-संस्कृति की रक्षा हो सके।

रक्ताल्पता के कारण मृत्यु से जूझते व्यक्ति के प्राणों की रक्षा हेतु रक्तदान, अँधेरे में भटकते प्राणी को रोशनी देने के लिए नेत्रदान और जीवन की श्वास-प्रश्वास को तरसते मानव के लिए हृदयदान होता है, ताकि मानव-संस्कृति की रक्षा हो सके। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान की कृपा से औषधालयों में इनके कोष स्थापित हैं। जहाँ दानवीर रक्तदान दे सकते हैं और मरणोपरान्त नेत्र व हृदय देने की घोषणा कर सकते हैं।

एक और है राष्ट्रीय दान – राष्ट्र के मान-सम्मान तथा अस्तित्व की रक्षा के लिए सर्वस्व समर्पण। आन्तरिक या बाह्य संकट के कारण राष्ट्र की अस्मिता खतरे में पड़ने पर हर नागरिक का दायित्व होता है कि वह अपना तन-मन-धन राष्ट्र की सेवा में अर्पित कर दे। महान् राष्ट्रभक्त भामाशाह ने अपनी पीढियों की कमाई महाराणा प्रताप को अर्पित कर दी। स्वतंत्रता-संग्राम में भारतवासियों ने क्या नहीं दिया? चीनी आक्रमण के समय लोगों ने 'राष्ट्रीय सुरक्षा-कोष' में आर्थिक दान एवं प्राणों की बलि देकर अपनी अपूर्व निष्ठा का परिचय दिया था। वैसे ही तूफान, बाढ़, महामारी और अकाल जैसी प्राकृतिक विपदाओं के समय भी यथोचित दान देकर सहयोग करना हमारा राष्ट्रीय और मानवीय दायित्व हो जाता है।

वर्तमान में चन्दा देना, पुरातन दान का ही एक रूप है, जिसके द्वारा अनेकानेक सांस्कृतिक और सामाजिक अनुष्ठानों का आयोजन होता है। अत: चन्दा कलियुग का सामाजिक धर्म है, जिसका निर्वाह सामाजिकता की दृष्टि से उचित है।

भारतीय इतिहास दानवीरों से भरा है। पुराणों और काव्यों में अनेक आख्यान विद्यमान हैं। राजा शिवि ने एक कबूतर के प्राणों की रक्षा के निमित्त अपना मांस दे दिया। महाराजा रन्तिदेव ने ४८ दिनों के उपवास के पश्चात् प्राप्त भोजन भी अतिथि को खिला दिया। सत्य हरिश्चन्द्र ने स्वप्न में ही अपने सम्पूर्ण राज्य का दान विश्वामित्र को दे दिया। यही नहीं, उन्होंने स्वयं को तथा पत्नी शैव्या को महादान की दक्षिणा देने के लिए बेच दिया। कहते हैं कि कर्ण प्रतिदिन सवा मन सोना दान करता था। उसने अपने प्राणाधार कवच-कुण्डल भी दान में दे दिये थे। राजा रघु ने विश्वजित् यज्ञ में सर्वस्व दान कर दिया था। केवल मिट्टी के पात्र शेष रह गये थे। इसके बाद भी वरतन्तु के शिष्य कौत्स के पहुँचने पर कुबेर ने जितनी स्वर्ण-वृष्टि की थी, वह भी सब उसे दान में दे दी। रसायन शास्त्र के जन्मदाता नागार्जुन ने जीवहर नामक युवराज को अपना सिर ही दे दिया। मानस में गोस्वामीजी ने दशरथ, जनक, भरत एवं श्रीराम की दानशीलता का वर्णन किया है। पुत्रजन्म के अवसर पर दशरथ जी के दान का वर्णन है –

नन्दमुख सराधि करि जातकरम सब कीन्ह।
हाटक धेनु बसन मनि नृप विप्रन्ह कहँ दीन्ह।।
सर्वस दान दीन्ह सब काहू।
जेहि पावा राखा नहि ताहू।।

श्री राम विश्वामित्र जी के साथ जनकपुर की ओर जाते हुए गंगा तट पर पहुँचकर स्नान और दान करते हैं –

चले राम लछिमन मुनि संगा।
गए जहाँ जग पावनि गंगा।।
तब प्रभ रिषिन्ह समेत नहाए।
विविध दान महिदेवन्ह पाए।।

दान का जो महत्त्व हिन्दू धर्म में प्रतिपादित है, उसका समर्थन इस्लाम और ईसाई धर्मों में भी हुआ है। इस्लाम में 'जकात और खैरात' को जन्नत की कुंजी कहा है। जकात हर मुसलमान का फर्ज है और जिसकी साढ़े ५२ तोले चाँदी या साढ़े ७ तोले सोने की हैसियत है, उसे अपनी कुल आय का ढाई प्रतिशत जकात देना अनिवार्य है। खैरात अपनी इच्छा पर निर्भर है। इसकी कोई सीमा नहीं है। अपनी तथा अपने परिवार की जानो-माल की खैरियत के लिए जो दान किया जाता है, उसे सदका कहते हैं। हदीसों में इस बारे में लिखा है – "जब कोई शख्स सदका देता है, चाहे वह खजूर के ही बराबर क्यों न हो, तो अल्लाह उसे अपने दाहिने हाथ में लेता है, बशर्ते वह सदका पाक कमाई का हो, क्योंकि अल्लाह पाक चीजों को ही पसन्द करता है, फिर वह उस सदके को पालता और बढ़ाता है। यहाँ तक कि एक खजूर एक पहाड़ के बराबर हो जाता है।"[३] "यदि सदका देने को कुछ न हो तो लोगों से अच्छी बात कह दिया करो। यदि यह तौफीक भी न हो, तो किसी को नुकसान ही न पहुँचाओ।"[४]

इसी प्रकार पवित्र बाइबिल के वचन हैं – "यदि तू पूर्ण होना चाहता है, तो अपनी सम्पत्ति बेचकर दरिद्रों को दे डाल और स्वर्ग में तुझे धन मिलेगा।"[५] "परमेश्वर के राज्य में धनवान् के प्रवेश की अपेक्षा ऊँट का सुई के छेद से निकल जाना अधिक सरल है।"[६] "जो मनुष्य गरीब को उदारता से देता है, उसे किसी प्रकार का अभाव न होगा। किन्तु गरीब को देखकर मुँह फेरनेवाले आदमी पर शाप पड़ता है।"[७] "तुम परमेश्वर और धन – दोनों की सेवा नहीं कर सकते।"[८]

दानधर्म में मनुष्य को आस्था होती है, पर इससे कुछ गलत लोग लाभ उठाते हैं। प्राचीन समाज इसलिए ब्राह्मण को दान देता था, ताकि वह अपना समग्र जीवन निश्चिन्त भाव से ज्ञान-विज्ञान और धर्म-साधना में लगाकर समाज को कल्याण-पथ पर अग्रसर करा सके। पर आज वह मूर्ख और दुराचारी होकर भी समाज की धार्मिक भावनाओं का शोषण कर परजीवी वृत्ति से अमरबेल की भाँति धर्मतरु पर फूलना-फलना चाहता है। उसे अपने आपको बदलना आवश्यक है।

करुणा, दया, संवेदना और सहानुभूति ही दान का आधार है। दाता-आदाता में पारस्परिक प्रेम का सम्बन्ध स्थापित होता है। यह अहिंसा पर आधारित एक ऐसी प्रक्रिया है, जो वर्ग-विद्वेष का शमन कर समाज को स्थायी शान्ति, समता एवं आर्थिक समानता की संरचनात्मक दिशा में अनवरत गतिशील रखती है। हिंसा और वर्ग-संघर्ष के हथियारों के बल पर क्रान्ति का स्वप्नदर्शी साम्यवाद तभी पनपता है; जब समाज संग्रह के मोह में मनीषियों के द्वारा संस्थापित दान-परम्परा का विस्मरण करता है। अतएव समाज को दान की मर्यादा का पालन करना है। भारतीय धर्मग्रन्थों में प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा अपनी आय का दस प्रतिशत दान करने की व्यवस्था दी है। सत्य, दया, दान और शौच धर्म के चार चरण हैं। अत: दान हमारी धार्मिकता – मानवीय कर्त्तव्य-बोध का प्रमाण है। यही हमारी दैवी सम्पत्ति है और यही हमारी अस्मिता का आधार है। भगवान कृष्ण ने इसी कारण इसे लोकोत्तर गुणों में परिगणित किया है।

 ❖ (क्रमश:) ❖

३. हदीस – बुखारी और मुस्लिम, 'जन्नत की कुंजी' हिन्दी – अजहर अली, देहली, पृ. ७९; **४.** वही, पृ.७९; **५.** बाइबिल, नया नियम, मत्ती १९/२१; **६.** नया नियम, मरकुस १०/३३; **७.** पुराना नियम, नीतिवचन २८/२७; **८.** नया नियम, मत्ती – ६/२४

खेतड़ी-निवास : कुछ घटनाएँ (३)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९३ ई. में अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित सर्व-धर्म-महासभा में पहुँचकर अपना ऐतिहासिक व्याख्यान देने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने एक अकिंचन परिव्राजक के रूप में उत्तरी-पश्चिमी भारत का व्यापक भ्रमण किया था। इस लेखमाला में प्रस्तुत है – विविध स्रोतों से संकलित तथा कुछ नवीन तथ्यों से संबलित उनके राजस्थान-भ्रमण तथा वहाँ के लोगों से मेल-जोल का रोचक विवरण। – सं.)

भूपालगढ़ का किला

खेतड़ी की पहाड़ियों में स्थित भूपालगढ़ के किले तथा महल का पिछले दिसम्बर अंक (पृ. ५८८) में उल्लेख आ चुका है। वहाँ से खेतड़ी नगर का बड़ा सुन्दर विहंगम दृश्य दिखता है। खेतड़ी-नरेश की कई पीढ़ियों ने उसी किले तथा महल में निवास किया। राजा फतेहसिंह जी के राज्यकाल के दौरान पहाड़ी के नीचे स्थित घाटी में दीवानखाना, सुखमहल आदि भवनों का निर्माण हुआ और राज-परिवार तथा दरबार के विभाग नीचे ही स्थानान्तरित हो गये। रख-रखाव के अभाव में आज भूपालगढ़ का किला क्रमश: खण्डहरों में परिणत होता जा रहा है। परन्तु जब स्वामीजी १८९१ ई. में खेतड़ी पधारे और वहाँ कई महीने निवास किया, तब वह किला तथा उसमें स्थित महल अच्छी हालत में थे। स्वामीजी एक महान् कलापारखी थे। उन्होंने अवश्य ही वहाँ जाकर महल के स्थापत्य तथा उसमें अंकित शेखावाटी की विशेष भित्ति-चित्रण की कला का बारीकी से अध्ययन किया होगा। कहते हैं कि उन्होंने वहाँ के किसी कमरे में दो-चार दिन निवास भी किया था।

बाघ का शिकार

उस काल के अनेक राजाओं के समान ही राजा अजीतसिंह बाघों के शिकार में काफी रुचि लेते थे। मुंशी जगमोहन लाल एक पत्र में लिखते हैं – "(राजा अजीतसिंह) बन्दूक का निशाना लगाने में अद्वितीय थे। ... उन्होंने इतने भारी सिंहों (बाघों?) का और इतने अधिक खुले पर्वतों में शिकार किया कि जिनकी संख्या का बोध केवल रजिस्टरों के देखने से ही हो सकता है।" (आदर्श नरेश, पृ. ३५८)

केवल शिकार ही नहीं वन्य पशुओं के पालने में भी राजा साहब की विशेष रुचि थी। लगता है तब तक वनराज सिंह पूरे भारत से लुप्तप्राय हो चले थे और केवल जूनागढ़ के गिर के वनों में ही बचे हुए थे। स्वामीजी ने परवर्ती काल के अपने कई पत्रों में अपने मित्र जूनागढ़ के दीवान श्री हरिदास विहारीदास देसाई से पूछा है कि क्या खेतड़ी-नरेश के लिए वे उन्हें एक सिंह का शावक दे सकेंगे! अमेरिका के प्रोफेसर राइट द्वारा संरक्षित स्वामीजी के नाम ७ अप्रैल १८९४ को लिखित राजा साहब के पत्र में भी एक बाघ का उल्लेख है – "आखिरकार हमने उस बाघ को पकड़ लिया है, जो हमारी खेतड़ी की पहाड़ियों में घूमा करता था, जो भलीभाँति पकड़े जाने के पूर्व तक ५० भैंसों को खा चुका था।"[१] माउंट आबू में बाघ के शिकार तथा खाल उतारने का उल्लेख हो चुका है। खेतड़ी के पास भी राजा का शिकार-गाह तथा एक मीनार बना हुआ है। सम्भव है स्वामीजी अपने सुदीर्घ खेतड़ी-प्रवास के दौरान राजा के साथ कभी शिकार देखने या वन-भ्रमण करने गये हों।

महेन्द्रनाथ दत्त की स्मृतिकथा

गंगाधर महाराज (स्वामी अखण्डानन्दजी) जब राजपुताना से लौटकर वराहनगर मठ में आये, तो वे स्वामीजी के खेतड़ी निवास के बारे में बताया करते थे। स्वामीजी के कनिष्ठ भ्राता महेन्द्रनाथ दत्त ने कुछ उनसे सुना और बाद में राजा अजीतसिंह के देहान्त के बाद मुंशी जगमोहन लाल कलकत्ते में आकर कुछ वर्षों के लिये वहीं निवास करने लगे, तो महेन्द्रनाथ उनके पास जाया करते थे। उसके बाद खेतड़ी से एक 'खाँ साहब' आकर मुंशीजी के पास कुछ दिन ठहरे थे। इन तीनों से महेन्द्रनाथ ने जो कुछ सुना था, उसे उन्होंने काफी काल बाद अपनी स्मृति से लिपिबद्ध किया है। उससे स्वामीजी की खेतड़ी-निवास की कुछ और भी बातें ज्ञात होती हैं –

"जयपुर अंचल में अनेक छोटे-छोटे राज्य हैं। शेखावाटी भाग में खेतड़ी नामक एक छोटा-सा राज्य है। अजीतसिंह नामक राजा तब वहाँ राज्य करते थे। इन राजा अजीतसिंह के साथ नरेन्द्रनाथ का सर्वप्रथम कैसे परिचय हुआ यह वर्तमान लेखक को विदित नहीं है। परन्तु खेतड़ी के ये राजा ही नरेन्द्रनाथ के प्रथम राजा-शिष्य हुए थे और वे उनके प्रति परम निष्ठावान थे।

"राजा अजीतसिंह नरेन्द्रनाथ के प्रति अतीव श्रद्धा-भक्ति करते थे और धर्म के विषय में नाना प्रकार के प्रश्न किया

१. Swami Vivekananda in the West : New Discoveries, by Marie Louise Burke, Vol. 2, Third Edition, 1984, P. 98

करते थे। यह जानने के बाद कि स्वामीजी में असाधारण विद्वत्ता है, वे उनसे सभी विषयों पर प्रश्न करते; यहाँ तक कि आवश्यकतानुसार राजनैतिक विषयों पर भी उनका उपदेश लिया करते थे। मुंशी जगमोहन लाल राजा साहब के दीवान या निजी सचिव थे। वे राजा अजीतसिंह के मानो दाहिने हाथ थे। मुंशीजी अंग्रेजी, संस्कृत, फारसी, उर्दू तथा अपने राजस्थान की भाषा जानते थे और राजनीति एवं कार्य-कुशलता में निपुण थे। वे वैष्णव सम्प्रदाय के व्यक्ति थे, इस कारण शाकाहारी तथा राधा-कृष्ण के उपासक थे। वे निष्ठापूर्वक पूजा-संध्या किया करते थे। मुंशी जगमोहन लाल नरेन्द्रनाथ का शिष्यत्व लेकर विशेष अनुगत भक्त हो गये थे। राजसभा के प्राय: सभी लोग उस समय नरेन्द्रनाथ के शिष्य-स्वरूप हो गये थे। जो लोग स्वयं उनका शिष्य कहकर परिचय नहीं देते थे, वे लोग भी उनके नितान्त भक्त हो गये थे। उसी समय खेतड़ी राज्य की सर्वप्रकार से उन्नति होने लगी और राजसभा सर्वदा खूब ऐश्वर्य से परिपूर्ण और साधु-पण्डितों द्वारा आदरणीय हो उठी। नरेन्द्रनाथ एक-एक समय एक-एक प्रकार की बातें कहते थे। जब वे साधु के समान खूब त्याग-वैराग्य-साधन-भजन के बारे में बोलते, तब सभी का मन साधन-मार्ग की ओर प्रवाहित होने लगता। फिर अन्य समय दर्शन-शास्त्र पर बातें होतीं, अथवा कभी वे साधारण इतिहास, विशेषत: राजस्थान का इतिहास पर ऐसे भावपूर्वक बोलते कि उसे सुनकर सभी गरम हो उठते। अपनी पूर्वकीर्ति सुनकर उनके भीतर-ही-भीतर अग्नि जल उठती और बाहर की दशा देखकर विषाद होने लगता। कभी नरेन्द्रनाथ प्रधान-मंत्री के समान समझा देते कि राज्य किस प्रकार चलाना चाहिए, फिर कभी साधन-भजन के विषय में विविध प्रकार के उपदेश देते और कभी-कभी हास-परिहास भी करते। बीच-बीच में वे भजन भी गाते।

"खेतड़ी-राजा के साथ उनके निवास के समय की बातें वर्तमान लेखक ने मुंशी जगमोहन लाल से सुनी थीं और राजपुताना से लौटने के बाद गंगाधर महाराज (स्वामी अखण्डानन्द जी) ने भी थोड़ा कुछ बताया था।

"(खेतड़ी में) एक दिन राजवंश की उत्पत्ति की कथा शुरू होने पर सभी विशेष आग्रहपूर्वक सुनने लगे। नरेन्द्रनाथ टॉड का 'राजस्थान' ग्रन्थ अपनी याददाश्त से दुहराने लगे। सभी लोग बड़े उत्फुल्ल थे; कोई-कोई राजा चन्द्रवंशीय थे, कोई-कोई राजा सूर्यवंशीय और कोई-कोई राजा हरिकुल-वंशीय थे – इन्हीं सब बातों पर विविध प्रकार की चर्चा होने लगी। क्रमश: बातें गम्भीर तथा विद्वत्तापूर्ण हो उठीं। सभी अपना-अपना मत व्यक्त करने लगे और अपने-अपने वंश-गौरव से विशेष गर्व का बोध करने लगे। वहाँ एक स्थानीय मुसलमान राजपूत गायक भी बैठे हुए थे; वे राजसभा में ध्रुपद गाया करते थे। खाँ साहब नरेन्द्रनाथ के विशेष अनुरागी भक्त थे। वे सहसा बोल उठे, 'स्वामीजी कोई चन्द्रवंश है, तो कोई सूर्यवंश; मैं भी तो राजपूत हूँ, मेरा कौन-सा वंश है।' नरेन्द्रनाथ गाम्भीर्य तथा हास्यपूर्ण मुख से सहसा बोल उठे, 'खाँ साहब, चन्द्रवंशी-सूर्यवंशी आदि तो पुरानी बातें हो चुकी हैं, आप तो हैं तारावंशी।' खाँ साहब तथा अन्य सभी लोग यह नयी बात तथा व्यंग सुनकर खूब आनन्द करने लगे। तब से खाँ साहब स्वयं को 'तारावंशी' कहकर परिचय दिया करते थे। खाँ साहब कलकत्ते के कॉटन स्ट्रीट में मुंशी जगमोहन लाल के पास कुछ दिन आये थे। वर्तमान लेखक तब उनके साथ भेंट करने गये थे। उनके साथ स्वामीजी के बारे में वर्तमान लेखक की विविध प्रकार की पुरानी बातें होने लगीं। खाँ साहब गर्व करते हुए स्वयं को 'तारावंशी' कहकर आत्म-परिचय देते हुए कहने लगे, 'स्वामीजी ने मुझे यही नाम दिया है, यह मेरे जीवन की श्रेष्ठ उपाधि है।' परन्तु अगले ही क्षण खाँ साहब बिल्कुल उदास भाव से दीवार के सहारे टेक लगाकर दोनों घुटने उठाकर मन-ही-मन न जाने क्या सोचने लगे। उनके नेत्र छलक आये, थोड़ी देर बाद वे लम्बी साँस लेकर बोले, 'राजा साहब तो चले गये हैं, स्वामीजी भी चले गये हैं, हम लोगों को अब जीवित रहने की भला क्या जरूरत है? उन दिनों की बातें सोचने पर एक अपूर्व स्मृति जागती है। अहा, कैसे सच्चर्चा में, कैसे सत्प्रसंग में हम लोगों के दिन बीतते थे ! राजा-प्रजा भूलकर हम सभी मानो एक हो गये थे। सभी स्वामीजी के भक्त, सभी स्वामीजी के शिष्य – वे दिन फिर क्या लौटकर आयेंगे !' इतना कहकर ही खाँ साहब उदास हो गये।

"मुंशी जगमोहन लाल ने उनसे स्वामीजी के प्रिय दो-एक भजन गाने को कहा। परन्तु खाँ साहब का कण्ठस्वर नहीं निकला, मुख से शब्द नहीं निकले; बल्कि वे और भी विषण्ण होकर निष्पन्द भाव से बैठे रहे और उनके दोनों नेत्र आँसुओं से गीले हो गये। खाँ साहब के शान्त हो जाने पर मुंशीजी भी उस समय बड़े व्यथित हुए और आक्षेप करते हुए अपने हाथ से सिर ठोकने लगे।

"थोड़ी देर बाद मुंशी जगमोहन लाल धैर्य का अवलम्बन करके बोले, 'स्वामीजी चन्द वरदाई की कविता सुनना बड़ा पसन्द करते थे।[२] उनमें एक यह है' – यह कहकर वे चन्द वरदाई के एक वर्णन की आवृत्ति करने लगे। बोलते बोलते वृद्ध-जराग्रस्त मुंशी जगमोहन लाल युवा-तेजस्वी हो उठे, उनका कण्ठस्वर क्रमश: गम्भीर हो उठा और उनके मुख की भाव-भंगिमा एक वीर पुरुष के समान झलकने लगी। आवृत्ति समाप्त करने के बाद उन्होंने वर्तमान लेखक को उसका अर्थ

२. स्वामीजी ने निवेदिता को भी 'पृथ्वीराज-रासो' की कथा सुनाई थी। (द्र. विवेकानन्द साहित्य, १९६३, खण्ड १०, पृ. १०/४०१-०२)

समझा दिया – योद्धागण घोड़ों पर सवार होकर एक गढ़ पर अधिकार करने के लिए एक पर्वत की चोटी पर चढ़ रहे हैं और विपक्षी लोग उनका प्रतिरोध करने का प्रयास कर रहे हैं, वर्षा तथा तलवारों के झन-झन शब्द, घोड़ों की टाप के खट-खट शब्द वहाँ इतने सुन्दर भाव से तथा सुललित छन्द में वर्णित हुए हैं कि मानो सब कुछ स्पष्ट दीख रहा हो। इसके बाद मुन्शी जगमोहन लाल बोले, 'खेतड़ी में रहते समय इसी प्रकार की कोई-न-कोई उच्च चर्चा लेकर मतवाले रहा करते थे।' वे और भी बोले, 'इससे केवल जरा-सा आभास मिल सकता है कि स्वामीजी ने खेतड़ी में किस प्रकार निवास किया था।

"मुन्शी जगमोहन लाल ने और भी कहा, 'स्वामीजी ने जापान तथा अमेरिका से राजा साहब को जो पत्र लिखे थे, वे सभी पत्र राजमहल में विशेष रूप से संरक्षित थे। परन्तु राजा साहब तथा रानी साहिबा की मृत्यु हो जाने से राज्य अब दूसरों के हाथ में चला गया है। यदि कभी सुविधा हुई, तो मैं उन पत्रों को और स्वामीजी द्वारा उपयोग में लायी हुई वस्तुओं को निकलवाने का प्रयास करूँगा।'

"यद्यपि नरेन्द्रनाथ अपने पूर्वपरिचित लोगों में 'नरेन्द्रनाथ' के नाम से ही जाने जाते थे और वैसे ही अपना नाम लिखा भी करते थे, परन्तु खेतड़ी निवास के समय से उनसे बातें करनेवाले तथा भक्तगण उन्हें 'स्वामीजी' के रूप में सम्बोधित करने लगे।"[३]

एक अन्य घटना

महेन्द्रनाथ दत्त ने एक अन्य विवरण भी दिया है – "राजपुताना में भ्रमण करते समय एक बार स्वामीजी एक स्थान पर जा पहुँचे। वहाँ आश्रय या आहार की कोई व्यवस्था न हो पाने से वे एक कुँए के निकट स्थित एक वृक्ष के नीचे जा बैठे। जब भूख-प्यास प्रबल हो जाती, तब किसी के कुँए से पानी निकालने पर उससे थोड़ा-सा लेकर वही पी लेते और चुपचाप बैठे रहते। वहाँ भोजन की कोई व्यवस्था न होने के कारण दो-तीन दिन इसी प्रकार जल पीकर बिताने के बाद वे अचेत हो गये। वहाँ के राजा के पास यह समचार पहुँचने पर उन्होंने स्वामीजी को विशेष यत्नपूर्वक रखा था। यह घटना राजपुताना में कहाँ घटी थी, यह पता नहीं।"[४]

३. श्रीमत् विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली (बँगला), महेन्द्रनाथ दत्त, भाग २, पृ. १७५-१७९

४. विश्वपथिक विवेकानन्द, (बँगला), उद्‌बोधन कार्यालय, पृ. १९४

❖ (क्रमशः) ❖

भाग्य – एक वैज्ञानिक विवेचन

डॉ. ए. पी. राव

(लेखक राजस्थान में सीकर जिले के लक्ष्मणगढ़ में मोदी कॉलेज ऑफ ईंजीनियरिंग ऐण्ड टेक्नालॉजी में प्राध्यापक हैं।)

ओह! यह मेरे भाग्य में नहीं है, या यह तो सिर्फ भाग्य से ही मिला है! इस तरह के वाक्य हम सभी रोजमर्रा की जिन्दगी में इस्तेमाल करते हैं। जिस काम को हम करना नहीं चाहते, या कर नहीं पाते उस असफलता को हम भाग्य का दोष मानकर अपनी जिम्मेदारी से मुक्ति पा लेते हैं। अक्सर हम अपनी असफलता को – 'भाग्य में नहीं था' कहकर छोड़ देते हैं। क्या इस 'भाग्य' शब्द और इसकी क्रिया की वैज्ञानिक विवेचना सम्भव है? विज्ञान, दर्शन तथा धर्म के सन्दर्भ में क्या 'भाग्य' को समझा जा सकता है?

एक सुन्दर कहानी के माध्यम से भाग्य को समझाया जाता है, जिसके अनुसार जो कुछ भी होता है, सब भाग्य से ही होता है। सारी क्रियाएँ उसी पर निर्भर होती है। रात के अँधेरे में चार व्यक्ति एक गाँव से दूसरे गाँव जा रहे थे। अचानक बिजली चमकने लगी और बारिश होने लगी। चारों ने एक मन्दिर में शरण ली। बिजली इतनी अधिक चमक रही थी कि लगता था मानो वह मन्दिर पर ही गिरकर उन चारों के प्राण ले लेगी। चारों एक-दूसरे के भाग्य को कोसने लगे कि मृत्यु एक ही व्यक्ति के भाग्य में लिखी है, परन्तु उसी एक के कारण चारों के प्राण संकट में पड़े हुए हैं। तभी उनमें से एक व्यक्ति ने सलाह दी कि क्यों न हम बारी-बारी से मन्दिर के बाहर निकल कर सामनेवाले पेड़ को छूकर लौट आयें। इससे मृत्यु जिसके भाग्य में लिखी होगी, बिजली उसी पर गिरेगी। एक भले ही मर जाय, पर बाकी तीन तो बच जाएँगे।

एक-एक कर तीन लोग बारी-बारी से मन्दिर के बाहर वाले पेड़ को छुकर आ गये। अन्त में बचा हुआ चौथा व्यक्ति घबरा गया। उसे लगा कि मेरी मृत्यु निश्चित है, लेकिन भाग्य की ऐसी विडम्बना कि चौथा व्यक्ति न चाह कर भी नैतिकता के नाते पेड़ का चक्कर लगाने के लिए मन्दिर से बाहर निकला। वह दौड़कर अभी पेड़ तक पहुँचा ही था कि बिजली जोरों से कड़की और मन्दिर पर गिर गई। तीनों बचे हुए व्यक्ति काल के गाल में समा गये। कहानी का मर्म

यह है कि इस एक व्यक्ति के भाग्य के कारण ही तीनों बचे हुये थे और ज्योंही वह बाहर गया कि मृत्यु ने बाकी तीनों को अपना ग्रास बना लिया। उन तीनों का भाग्य एक साथ ही जुड़ा हुआ था।

इस कथा से क्या यह अर्थ निकलता है कि विश्व की सारी क्रियायें पूर्व-निर्धारित और भाग्य से जुड़ी होती हैं? पर यदि हम इस पर विश्वास करें तो 'कर्म' निरर्थक हो जायेगा? वैज्ञानिक, दार्शनिक या धार्मिक किसी भी दृष्टि से यह सत्य या उचित नहीं है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भाग्य को सम्भावना के सिद्धान्त (Theory of Probability) द्वारा समझा जा सकता है। हम जो भी करते हैं, जिस भी तरीके से करते हैं, वह हमारा अनेकों में से किया गया एक चयन होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक सिक्के को उछालने पर उसके चित्त या पट्ट आने की सम्भावनाएँ समान होती हैं। ऐसा तब होता है, जब सम्भावनाएँ केवल दो ही होती हैं – चित्त या पट्ट। यदि हम सिक्के को दस बार उछालें, तो पॉच बार चित्त और पॉच बार पट्ट नहीं आएगा। जितनी ज्यादा बार सिक्के को उछाला जायेगा, हम सही परिणाम के उतने नजदीक होंगे।

सिर्फ दो सम्भावनाओं के साथ इस वैज्ञानिक सिद्धान्त की इतनी सीमायें हैं। संसार में हर क्रिया के अनेकों विकल्प हैं। हम अनेक सम्भावनाओं में से एक को चुनते हैं। यह चुनी हुई सम्भावना हमें अच्छा परिणाम देगी या बुरा? इसका उत्तर सामान्य तौर पर दिया जा सकता है, निश्चित तौर पर नहीं।

यही भाग्य है! इसीलिए भाग्य को किसी गणित में बैठाना सम्भव नहीं हो सका है। पर जो गणित में नहीं बैठता, उसे अवैज्ञानिक कहना भी सर्वथा अनुचित है। भृगु-संहिता या नास्त्रेदमस की भविष्यवाणियाँ सच होने का दम भरती हैं। परन्तु वैज्ञानिक तौर पर किसी के भाग्य की पूर्व घोषणा और उसकी सत्यता सन्देहास्पद ही है। हमारी उत्सुकता केवल आनेवाली घटना की जानकारी हासिल करना मात्र है। यह मानवीय उत्सुकता आज के सामाजिक सन्दर्भ में अत्यधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि आज प्रकिया और कर्म से अधिक परिणाम महत्त्वपूर्ण हो गया है, तरीका चाहे जो हो – उचित या अनुचित!

परन्तु क्या यह उचित तरीका है? वास्तव में बहुत सारी सम्भावनाओं में से जिसे हम चुनते हैं, वह क्रिया जहाँ समाप्त होती है, वही उसका परिणाम है। उसी को हम भाग्य कहते हैं, जिसमें सिर्फ परिणाम दिखता है, क्रिया नहीं दिखती। पाश्चात्य विचारों से प्रभावित होकर हम अपने जिन पूर्वजों को अवैज्ञानिक कहने में संकोच नहीं करते, उन्होंने मनोवैज्ञानिक तौर पर 'भाग्य' शब्द का निर्माण और जीवन में उसके महत्त्व का निरूपण बहुत ही वैज्ञानिक तरीके से किया है। दर्शन शास्त्र और धर्म के द्वारा शास्त्र के माध्यम से इसे समाज में प्रचलित किया गया है। पुरा काल के विचारकों को बहुत पहले ही बात समझ आ गई थी कि कोई मनुष्य हमेशा सफलता प्राप्त नहीं कर सकता और न ही हर क्रिया की तत्काल प्रतिक्रिया तथा फल मिलता है। हम ऐसी अनेक क्रियायें जानते हैं, जिनका फल काफी काल बाद देखने को मिलता हैं। विज्ञान अभी इतना ही उन्नत हुआ है कि वह कहता है – प्रत्येक क्रिया की विपरीत प्रतिक्रिया उतनी ही मात्रा में होती है (न्यूटन का सिद्धान्त), परन्तु समय के पैमाने पर वह कब होगी, इसे वैज्ञानिक नहीं जानते।

आज पृथ्वी का तापमान तेजी से बढ़ रहा है। संसार असमान वर्षा से त्रस्त है। इस प्रदूषित वातावरण के लिए हम जिम्मेदार नहीं, वरन् पिछली पीढ़ी जिम्मेदार है, जिन्होंने अपने छोटे-छोटे फायदों के लिए पृथ्वी को वनविहीन कर दिया! वैज्ञानिक दृष्टि से पेड़ काटने की क्रिया अधिक 'लाइफ-टाइम' वाली क्रिया है, जिसे बाद में समाप्त होकर प्रतिक्रिया देने में ५०-६० वर्ष लगते हैं, जिसकी त्रासदी यह पीढ़ी भुगत रही है। इसी वैज्ञानिक सत्य को आम आदमी को समझाने के लिए धर्म ने 'भाग्य' शब्द की खोज की थी। कहा गया – "वृक्ष देवता हैं। उनकी पूजा करो। उन्हें अपने स्वार्थ के लिए मत काटो।" भाग्य परा-वैज्ञानिक सत्य है। यदि हम उसे न मानें तो? अनेक लोग एक ही काम करते हैं, पर सबको समान फल नहीं मिलता। ऐसा क्यों? हम अनुमान लगा सकते है कि कोई भी क्रिया व्यर्थ नहीं है और हर क्रिया का अपना परिणाम है, परन्तु हर क्रिया का परिणाम देने का समय अलग-अलग है। किसी परिणाम का कारण जब हमारी समय-सीमा से बाहर होता है और वह कारण हम नहीं देख पाते, तब 'भाग्य' शब्द की मदद से उस सोच को बन्द कर देते हैं। बहुत परिश्रम के बाद भी जब किसी कार्य में सफलता नहीं मिलती, तो – 'अब तक भाग्य में न था' – कहकर नवीन उत्साह से कार्य करने में जुटते हैं।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पहुँचते हैं कि भाग्य एक ऐसा वैज्ञानिक-परावैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक सत्य है, जो सभी प्राणियों को निराशा से बचाकर ऊँचे लक्ष्य की ओर जाने की प्रेरणा देकर समाज को क्रियाशील बनाए रखता है और जीवन के सन्दर्भ में विज्ञान अब तक इतना उन्नत नहीं हुआ है कि भाग्य को किसी पूर्व-निर्धारित गणितीय सूत्र में बैठाकर कल होनेवाली हर घटना की भविष्यवाणी आज ही कर सके। विज्ञान इस कार्य में तब सफल हो सकेगा, जब किसी बिन्दु से शुरू होनेवाली क्रिया की सारी सम्भावनाओं को जानकर उनके परिणाम की व्याख्या कर सकेगा। तब भी वह यह न कह सकेगा कि उन अनेक सम्भावनाओं में से वह क्रिया किस रास्ते आगे बढ़नेवाली है। ❑❑❑

(अंग्रेजी से अनुवाद डॉ. सीमा मोहरिर, एम. ए., पी. एच. डी.)
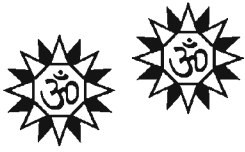
मेरी स्मृतियों में विवेकानन्द (१२)
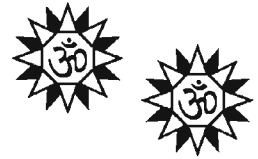
भगिनी क्रिस्टिन

(जो लोग महापुरुषों के काल में जन्म लेते हैं और उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं, वे धन्य और कृतकृत्य हो जाते हैं। भगिनी क्रिस्टिन भी एक ऐसी ही अमेरिकन महिला थीं। स्वामीजी-विषयक उनकी अविस्मरणीय स्मृतियाँ आंग्ल मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' के १९३१ के जनवरी से दिसम्बर तक, फिर १९४५ के स्वर्ण-जयन्ती विशेषांक तथा १९७८ के मार्च अंकों में प्रकाशित हुई थीं। बाद में वे 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ में संकलित हुई, वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। – सं.)

भारत की कुछ समस्याएँ

बहुधा ऐसा लगता कि स्वामी विवेकानन्द के विचारों में स्थिरता नहीं है। कभी-कभी वे दिन-पर-दिन बड़े उत्साहपूर्वक बाल-विवाह, जातिवाद, परदा-प्रथा, धर्म के क्षेत्र में भावुकता या किसी अन्य विषय के विरोध में बोलते, और इतना बोलते कि हमें विश्वास हो जाता कि इससे भिन्न दूसरा कोई दृष्टिकोण हो ही नहीं सकता। उसके बाद, शायद हमारे चेहरों पर अपने विचारों की पूर्ण सहमति का भाव देखकर, वे सहसा पलटकर अपने सभी पूर्वकथित विचारों को ध्वस्त करते हुए, अपने से सहमति रखनेवालों की बातों को काटते हुए, भलीभाँति सिद्ध कर देते कि उसका विपरीत ही सही है। इस पर हममें से किसी ने परेशान होकर कहा – "परन्तु स्वामीजी, कल तो आपने ठीक इसके उल्टा कहा था।" इस पर यदि वे उत्तर देते, तो यही – "हाँ, वह कल की बात थी।" न तो वे दोनों दृष्टिकोणों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करते और न ही इसके लिये कोई व्याख्या देते। यदि हम लोगों के मन में ऐसी धारणा बनी कि अरे, इनके विचारों में तो स्थिरता ही नहीं है, तो इसकी उन्हें कोई चिन्ता न थी। इमर्सन का कथन है – "विचारों की मूर्खतापूर्ण स्थिरता क्षुद्र मनवालों का अन्धविश्वास है।" वे जीवन की सभी समस्याओं को विभिन्न पहलुओं से देखते रहते थे। हम लोग धरती के प्राणी और उसी की दृश्यावली के अंग थे, परन्तु पर्यवेक्षण की ऊँची मीनार पर खड़े हुए स्वामीजी को आसपास का परिवेश कुछ भिन्न ही दिखाई देता था। इस विषय में उन्होंने अधिक से अधिक इतना ही कहा था – "नहीं जानते ! यह तो मेरा शब्दमय चिन्तन है।"

काफी काल बाद हमें पता चला कि वे सभी भले-बुरे पक्षों पर विचार करने के बाद ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचते थे। इसका यह तात्पर्य न था कि एक पक्ष पूरी तौर से सही है और दूसरा पक्ष पूरी तौर से गलत; बल्कि यह कि पलड़ा एक के पक्ष में जरा-सा झुका हुआ था, और वह भी शायद समय की जरूरत के कारण। इस निष्कर्ष पर पहुँचने के बाद वे उस विषय पर चर्चा करना बन्द कर देते और इन निष्कर्षों को कार्यरूप में परिणत करने का कोई उपाय सोचने लगते।

निन्दावाद को वे क्षतिकर मानते थे। उनका विचार था कि सुधारवाद से लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है, क्योंकि सुधार-कार्य सर्वदा छिद्रान्वेषण से ही आरम्भ होता है। और विशेषकर भारत जैसे देश की एकता के लिये तो यह घातक होगा, जहाँ कि व्यक्ति तथा राष्ट्र का खोया हुआ आत्मविश्वास पुन: स्थापित करना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है। यहाँ आदर्शों का प्रत्येक परिवर्तन विकास के रूप में ही होगा और उसे बाहर से नहीं थोपा जा सकेगा। जिन कारणों से यह परिवर्तन आ रहा है और जिन्हें अनेक लोग आवश्यक महसूस कर रहे थे, उन्हें स्वामीजी अपनी भविष्यद्रष्टा के बोध से देख पा रहे थे। उन दिनों आर्थिक कारणों का प्राबल्य था। बिना अधिक विचार किये सहज ही समझा जा सकता था कि कैसे बढ़ती हुई निर्धनता के दबाव से परदा-प्रथा, जातिवाद, बाल-विवाह तथा अन्य रीति-रिवाज प्रभावित हो रहे हैं।

एक दिन किसी ने उनकी किसी उक्ति का प्रतिवाद किया, तो वे तत्काल मुड़कर बोले – "अच्छा, तो तुम मुझसे बहस करने का साहस करते हो, जिसकी पचास पीढ़ियाँ वकील रही हैं !" इसके बाद वे अपने तथ्यों तथा युक्तियों को प्रस्तुत करते हुए इतने प्रभावी ढंग से बोले कि हममें से कुछ को विश्वास हो गया कि काला ही सफेद है। पर यदि कोई उनसे कहता – "स्वामीजी, मैं आपसे तर्क नहीं कर सकता, परन्तु आप जानते हैं कि वास्तविकता तो यही है।" इस पर वे हर बार अद्भुत कोमलता के साथ सहमति दिखाते हुए कहते – "हाँ, तुम ठीक कहते हो।" स्वामीजी और उनके साथ हम लोग भी अधिकांश समय जिस तनाव में रहा करते थे, उसके बीच यही सब हमारे लिये थोड़े-बहुत मनोरंजन तथा उस तनाव से कुछ काल के लिये मुक्त होने का साधन था।

हमें विस्मित कर देनेवाली बात जो थी, वह यह कि वे न केवल समस्याओं को स्पष्ट रूप से देख लेते, अपितु इनके लिये समाधान भी ढूँढ़ निकालते, और ऐसे समाधान जो पूर्णत: अभूतपूर्व होते। प्रत्येक प्रथा का पहले इतिहास ढूँढ़ा जाता। प्रारम्भ में उसके प्रचलन का एक कारण था, यह एक आवश्यकता की पूर्ति करती थी। कालान्तर में वह एक प्रथा बन गयी, और जैसा कि सभी प्रथाओं के साथ होता है, लगाम या नकेल के समान उससे प्रामाणिकता जुड़ गयी और वह उसकी उपयोगिता के साथ भिड़ गयी। अब प्रश्न था कि उस प्रथा में मूल्यवान क्या है और हानिकारक क्या है। किसी विशेष परिस्थिति के कारण वह अस्तित्व में आई, क्या वर्तमान परिस्थितियों में उनका नाश उचित होगा? वैसे, जैसा कि शायद अधिकांश लोग सोचते हैं, ये प्रथाएँ केवल भारत की ही विशेषता नहीं हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका को एक स्वाधीन राष्ट्र के रूप में अस्तित्व में आये डेढ़ सौ वर्षों से अधिक नहीं हुए, तथापि वहाँ दो विशिष्ट जातियाँ बन चुकी हैं और दोनों के बीच अत्यन्त कठोर भेद है। एक निग्रो भले ही एक स्वीडेन-वासी के समान गोरा हो, परन्तु वह दोनों जातियों के बीच की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकता। और फिर भारत ने कभी (यूरोपवासियों के समान) अपने पिछड़ी जातियों का कत्लेआम नहीं किया! जातियों के इन दो कठोर विभागों के अतिरिक्त अमेरिका में जातियों के थोड़े कम कठोर और भी अनेक उपविभाग हैं, जो सामान्यत: आर्थिक अवस्था पर आधारित हैं। धन को जातीय श्रेष्ठता का मानदण्ड बनाने की अपेक्षा, क्या यह बेहतर नहीं है कि केवल आध्यात्मिक दृष्टि से समृद्ध जाति को सर्वोच्च स्थान दिया जाय? अभी कुछ ही काल पूर्व तक यूरोप में भी बाल-विवाह प्रचलित था। वहाँ के साहित्य में राजकुमारियों के बारह साल की आयु में विवाह होने का बारम्बार उल्लेख है और हम जानते हैं कि राज-परिवारों में जो होता है, आम जनता उसी का अनुकरण करती है। शेक्सपियर के *'रोमियो और जूलियट'* में जब जूलियट के माता-पिता काउंट पेरिस के साथ उसके विवाह की योजना बना रहे थे, उस समय उसकी आयु चौदह वर्ष से कुछ कम बतायी गयी है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन प्रथाओं का विकास मानवीय स्वभाव की सीमाओं तथा कुछ ऐसी विशेष परिस्थितियों के फलस्वरूप होता है, जो उस काल के लिये उसे आवश्यक बना देती हैं। उनकी निन्दा करने के स्थान पर स्वामीजी उनके इतिहास का अनुसरण करते हुए उनके मूल स्रोत तक जाकर स्पष्ट रूप से देखते कि उनके साथ कौन-सी अवांछित चीजें जुड़ गयी हैं और सर्वप्रथम उसका परिष्कृत रूप ढूँढ़ निकालने का प्रयास करते। कुछ प्रथाओं के बारे में तो इतना ही यथेष्ट था और वर्तमान भारत में क्रियाशील शक्तियाँ बाकी प्रथाओं में स्वयं ही परिवर्तन लानेवाली थीं। पर कुछ प्राचीन प्रथाएँ ऐसी भी थीं, जिन पर दोषारोपण किये बिना ही एक नयी प्रथा आरम्भ करना जरूरी था और ये प्रथाएँ सहज भाव से, मानो अज्ञात रूप से ही पुरानी प्रथाओं का स्थान ले लेनेवाली थीं।

विवाह एक महान् तपस्या है। विवाह अपने लिये नहीं, बल्कि समाज के लिये किया जाता है। मन, वचन तथा कर्म में पवित्रता होनी चाहिये। पति-पत्नी के बीच निष्ठा के पवित्र आदर्श के अभाव में सच्चा संन्यास भी सम्भव नहीं है। सम्बन्धों के बीच यदि भावुकता न भी हो, पर निष्ठा तो होनी ही चाहिये। ब्रह्मचर्य या पवित्रता का गुण ही राष्ट्र की जीवन-रक्षा करता है। इस ब्रह्मचर्य के आदर्श के कारण ही भारत आज भी जीवित है, जबकि उसके बाद आनेवाले राष्ट्रों का नामो-निशान तक मिट चुका है।

किसी ऐसी टिप्पणी के बाद वे प्राचीन राष्ट्रों के उत्थान और पतन का वर्णन करने लगते। किसी भी राष्ट्र के जीवन के प्रारम्भ में, उसके संघर्षपूर्ण दिनों में लोगों के जीवन में त्याग, तपस्या और संयम का भाव रहता है। वह राष्ट्र ज्यों-ज्यों समृद्ध होता जाता है, त्यों-त्यों उनके स्थान पर भोग, स्वेच्छाचार और विलासिता का बाहुल्य हो जाता है और इसके परिणाम-स्वरूप उस राष्ट्र का क्षय, पतन तथा विध्वंस हो जाता है। बेबीलोन, असीरिया, यूनान, रोम – इनमें से प्रत्येक की यही कहानी है। परन्तु भारत आज भी जीवित है। यहाँ के कुछ लोग असफल हो सकते हैं, परन्तु भारत ने कभी अपने आदर्श को नहीं झुकाया है।

इसके बाद अपरिहार्य रूप से निकट भविष्य में आनेवाले सामाजिक परिवर्तनों के बारे सोचते हुए वे पूछते – "कौन-सा विवाह अच्छा है? भारत-जैसा नियोजित विवाह या फिर पश्चिम-जैसा व्यक्तिगत चुनाव पर आधारित? पर हमारे देश के युवक अभी से अपने लिये पत्नियाँ चुनने का अधिकार माँग रहे हैं।" फिर कहते – "क्या अन्तर्जातीय विवाह उचित है? अब तक दोनों प्रजातियों के निकृष्ट लोगों ने मिलकर एक अभागी प्रजाति की सृष्टि की है। यदि दोनों जातियों के श्रेष्ठ लोगों को जोड़ा जाय, तो इसका क्या परिणाम होगा? सम्भव है इससे अति-मानवों (supermen) की एक प्रजाति उत्पन्न हो। क्या ऐसा होगा? क्या यह उचित होगा? उनका देश, सर्वदा स्वामीजी का देश! इस महान् देश को कैसे बचाया जाय, जिसने विश्व को कुछ परम उदात्त भाव प्रदान किये हैं और जो अब भी उस आध्यात्मिक खजाने का रक्षक है, जिसकी पूरे विश्व को आवश्यकता है?

या फिर वे बाल-विवाह के प्रश्न पर बोलने लगते। क्या ऐसा भी कोई विषय था, जिसे वे अपनी जाज्वल्यमान मेधा से आलोकित नहीं करते थे? उनकी पैनी मेधा को किसी समस्या पर एकाग्र होते देखना ही एक बड़ी शिक्षा थी। एक

प्रश्न या फिर किसी के मुख से संयोगवश निकली कोई टिप्पणी ही यथेष्ट थी। वे उठ खड़े हो जाते और तेजी से टहलने लगते, और उनके मुख से पिघले लावे के समान शब्द प्रवाहित होने लगते। उनका मन किसी भी विषय को पकड़ लेता और वे उसे तब तक नहीं छोड़ते, जब तक कि वह उनके समक्ष अपना रहस्य प्रकट नहीं कर देता। किसी-किसी का कहना है कि उन्होंने बाल-विवाह, जाति या पर्दा-प्रथा का समर्थन किया था। उनके ऊपर आरोप लगाया गया है कि वे अपने सन्देश में निहित महान् सिद्धान्त के प्रति ईमानदार नहीं थे। हममें से जिन लोगों ने उन्हें इन समस्याओं से जूझते देखा है, वे जानते हैं कि यह बात कितनी असत्य है। जो व्यक्ति अन्याय को देखकर, मनुष्य के क्रूर आधिपत्य के फलस्वरूप होनेवाली पीड़ा को देखकर अति अभिभूत हो उठता था, क्या वह असहायों को बाँधनेवाली शृंखला में और भी एक कड़ी जोड़नेवाला हो सकता था? जिसका हृदय मक्खन के समान कोमल था, जो वंचितों और पीड़ितों के प्रति सहानुभूति में उन्मत्तप्राय हो जाते थे, बन्धन में पड़े लोगों को महा-मुक्ति की प्राप्ति कराना जिनका जीवनोद्देश्य था, ऐसे परित्राता के विषय में कोई निर्दयता की कल्पना भी भला कैसे कर सकता था?

तथापि उनके मन में सुधार तथा सुधारकों के बारे में जरा भी सहानुभूति नहीं थी। जो पद्धति बुराई को जड़ से उखाड़ने के साथ-ही, उस प्रक्रिया में बहुत-सी सुन्दर तथा मूल्यवान चीजें भी नष्ट करके, उसकी जगह पर भद्दी बंजर जमीन छोड़ जाती हो, उसके साथ तालमेल बैठाना उनके लिये भला कैसे सम्भव था? इस देश में जो कुछ भी बदलाव लाना है, उसे इसके स्वाभिमान तथा आत्मविश्वास की कीमत पर नहीं लाया जाना चाहिये। इसकी प्रथाओं और परम्पराओं की निन्दा करना – नहीं, वह उचित मार्ग नहीं है। यह एक कैसी मनो-विकृति थी, जिसके चलते उनकी अपनी पीढ़ी के इतने लोग अपनी मातृभूमि की हर चीज में बुराई और पश्चिम की हर चीज में विशुद्ध अच्छाई देखा करते थे? ऐसा सम्मोहन आया कैसे? यदि उनकी बातें सत्य होतीं, तो क्या भारत इतने युगों तक जीवित रह पाता? भारत का हृदय स्वस्थ है। इसमें कुछ बुराइयाँ हो सकती हैं, परन्तु वे कहाँ नहीं हैं? क्या पश्चिमी जगत् उनसे मुक्त है? घण्टों चहलकदमी करते हुए वे भारत की समस्याओं से जूझते रहते थे।

वैसे तो सबके लिये, परन्तु विशेषकर वर्तमान भारत के सन्दर्भ में यह आवश्यक है कि उसके विश्वास तथा श्रद्धा के भाव को नष्ट न किया जाय। एक बुराई को दूर करते हुए, उससे भी बड़ी समस्याओं की सृष्टि करना क्या उचित है? प्राचीन भारत में बाल-विवाह तथा परदा-प्रथा – दोनों का ही प्रचलन नहीं था और आज भी भारत के सभी अंचलों में उनका अस्तित्व नहीं है। वे उन्हीं प्रान्तों में हैं, जहाँ मुस्लिम आधिपत्य था। इनसे क्या हुआ है? इसने जाति की पवित्रता की रक्षा की है। केवल नारियों को ही नहीं, पुरुषों को भी पवित्र रहने की आवश्यकता है। पतिव्रता नारी, न तो किसी परपुरुष के मुख पर दृष्टिपात करेगी और न दूसरों को अपने मुख पर दृष्टिपात करने देगी।

यदि कोई अपने देश की रीति-नीतियों या जिन परम्पराओं ने उनकी सृष्टि की है, उन्हें घृणा की दृष्टि से देखता, तो यह उन्हें अविश्वसनीय प्रतीत होता। परन्तु वे इसके दूसरे पक्ष की भी अनदेखी नहीं करते थे। वे कहते – "शारीरिक रूप से हम लोग दुर्बल होते जा रहे हैं। क्या इसी कारण? तो फिर उपाय क्या है?" बाल-विवाह के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली बुराइयों के बारे में वे कुछ भी नहीं कहते थे। वे तो पहले से ही सर्वज्ञात थीं। उन्होंने कभी नहीं कहा कि उनका उन्मूलन होना चाहिये, क्योंकि जो चीज उन्हें स्वाभाविक रूप से स्पष्ट प्रतीत होती, उसे वे कभी शब्दों में व्यक्त नहीं करते। बाल-विवाह की यह प्रथा दु:खों का कारण थी, दुर्बलता का कारण थी और कुछ दृष्टियों से बुरी भी थी। यह अकल्पनीय है कि किसी विषय में तथ्यों को जानने के बाद, उन्होंने तत्काल ही उसके सभी अवांछित तत्त्वों को दूर करने के लिये कोई उपाय ढूँढ़ निकालने का प्रयास न किया हो। परन्तु इसके लिये वे ऐसी पद्धतियों को अपनाने के लिये प्रस्तुत नहीं थे, जिनसे और भी अधिक बुराइयों की सृष्टि होती। उनका मन 'लकीर-का-फकीर' नहीं था, इसलिये हम उनसे 'लकीर-का-फकीर' पद्धतियों को अपनाने की बात सोच भी कैसे सकते हैं? हममें से कुछ को बाद में ज्ञात हुआ कि यह विषय क्यों उनके हृदय को गहराई से आन्दोलित कर देता था।

इस विषय पर शायद घण्टों विचार करने के बाद, वे एक गहरी साँस लेते और कहते – "ठीक है, आर्थिक दबाव ही परिवर्तन ले आयेगा। और उसके साथ शिक्षा मिल जाने से यह प्रथा समाप्त हो जायेगी। शिक्षा ! हमें अपनी नारियों को शिक्षा देनी होगी ! परन्तु उस तरह की नहीं, जैसी कि आज दी जा रही है। भगवान बचायें ! वह तो वर्तमान बुराई से भी अधिक क्षतिकर होगी।"

(प्रबुद्ध भारत, स्वर्ण-जयन्ती विशेषांक, १९४५)

❖ **(क्रमशः)** ❖

'पुरातन प्रज्ञा का प्रदेश' बिहार की राजधानी पटना से १०१ किलोमीटर दक्षिण-पूर्व पंच-पर्वतों की नगरी राजगीर अति प्राचीन काल से शक्तिशाली साम्राज्यों से सम्बद्ध एक सदाबहार रमणीक स्थल है। देश के वैसे नगर जिनके परिभ्रमण से पुराने युग की याद ताजा हो जाए, उनमें राजगीर प्रथम गण्य है।

प्राचीन भारत के विभिन्न ग्रन्थ यथा – रामायण, महाभारत, पुराण, स्मृति और बौद्ध तथा जैन साहित्य से हमें राजगीर से सम्बन्धित विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। छठी शताब्दी ईसा-पूर्व के प्राचीन भारतीय गणराज्यों के अन्तर्गत मगध प्रदेश के श्रीक्षेत्र राजगीर को हम 'गिरिव्रज' के रूप में पाते हैं, जो सम्पूर्ण भारतवर्ष का प्रथम राजधानी रहा। अपने अस्तित्व काल में राजगीर विभिन्न नामों से मशहूर रहा, जिनमें कुशपुर, कुशमतिपुर, वसुमतिपुर, बृहद्रथपुर, गिरिव्रज और राजगृह प्रमुख हैं।

'राजगीर' शब्द राजगृह का अपभ्रंश मात्र है, जिसका शाब्दिक अर्थ राजसीगृह – राजा का निवास है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्यकाल में आए चीनी यात्री फाह्यान राजगृह की स्थापना का श्रेय राजा अजातशत्रु को देते हैं, जबकि इसके विपरीत ह्वेनसांग की यात्रा-विवरण यह स्पष्ट करती है कि मगध-नरेश बिम्बिसार ने राजगृह की स्थापना की। राजगीर राजा जरासन्ध, राजा बिम्बिसार, सम्राट् अजातशत्रु आदि की कर्मभूमि रही है। उल्लेखनीय है कि प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन ४८३ ई. पू. के आसपास राजगीर के ही सप्तपर्णी गुफा में हुई थी।

बिहार राज्य के नालन्दा जिले में अवस्थित राजगीर का सौभाग्य है कि वह पूर्व-प्रागैतिहासिक पाषाण युग से लेकर ऐतिहासिक काल तक मगध जनपद का महान् केन्द्र बना रहा। यही वह स्थल है, जहाँ बुद्ध और महावीर की पहली भेंट हुई। जैन व बौद्ध धर्मों के विकास के साथ-साथ राजगीर इस्लाम तथा हिन्दू धर्म का भी एक महान् केन्द्र रहा है।

तथागत ने अपने जीवन-काल में जिन स्थलों का बार-बार दर्शन लाभ किया, उनमें राजगीर सर्वप्रमुख है। आज भी वहाँ का 'जीवक आम्रक वन', 'वेणुवन विहार' और १९६९ ई. में जापान के सहयोग से निर्मित 'विश्वशान्ति स्तूप' आनेवाले बौद्ध यात्रियों को आनन्द प्रदान करते हैं।

पाँच मनोरम पहाड़ियों – विपुलाचल, रत्नागिरि, उदयगिरि, स्वर्णगिरि तथा वैभारगिरि और हरे-भरे नयनाभिराम वनों के बीच बसे राजगीर को सिद्ध-भूमि कहा गया है। जैनियों के लिए भी यह स्थल पवित्र पुनीत है, जहाँ भगवान आदिनाथ और वास्तुपूज्य स्वामी के अतिरिक्त अन्य २२ तीर्थंकरों के समवशरण आए, जहाँ महावीर स्वामी ने जन-कल्याणार्थ प्रवेशोत्कीर्ण उपदेश दिया। वह राजगीर ही है, जहाँ की वादियों में आज भी सत्य-अहिंसा सुगन्धमान है।

पूरे देश में राजगीर ही वह एकमात्र प्रधान स्थल है, जहाँ हर तीन साल पर पुरुषोत्तम मास (मलमास) का मेला लगा करता है। धर्मशास्त्रों में इसका स्पष्ट उल्लेख है कि इस अवधि में धरती के समस्त देववृन्द एक माह तक यहाँ उपस्थित रहते हैं। मुस्लिम सन्त मखदुम शाह शर्फुद्दीन की साधना-स्थली के साथ-साथ गुरु नानक और गुरु तेग बहादुर जैसे सिक्ख गुरुओं का यह विहार स्थल है, जहाँ आज भी उनके आगमन के स्मृतिचिह्न जीवन्त बने हुए हैं।

बुद्ध-काल से पाटलीपुत्र के उदय के पूर्व तक राजगीर की स्वर्णिम स्थिति बहाल रही। ऐसे प्राचीन भारतीय राजमार्ग पर अवस्थित होने के कारण और विश्वप्रसिद्ध शिक्षण संस्थान नालन्दा तथा महावीर की निर्वाण-भूमि पावापुरी पास में ही होने के कारण यह नगर हर काल, हर समय में समृद्ध और प्रगति के पथ पर अग्रसर रहा।

राजगीर में ऊपर वर्णित स्थलों के साथ-साथ साइक्लो-पीडियन दीवार, स्वर्णगुप्ता (सोनगुफा), जरासन्ध का अखाड़ा, बिम्बिसार की जेल, जरादेवी का मन्दिर, गर्म-जल के झरने, महादेव मन्दिर, मनियार मठ, रथ पहिये का निशान आदि दर्शनीय हैं। यहाँ का सर्वप्रमुख आकर्षण 'एरियल-रोप-वे' (रज्जुमार्ग) जो विश्वशान्ति स्तूप तक ले जाता है। यहाँ के कुण्ड व गर्म-जल के झरने भारत-प्रसिद्ध हैं, जिनमें स्नान करने से हर प्रकार के चर्म-रोग दूर हो जाते हैं।

अब तो रेलमार्ग से जुड़ जाने के कारण राजगीर जाना और भी सहज हो गया है। यदि बिहार-भ्रमण करनेवाला यात्री राजगीर-भ्रमण न करे, तो उसका भ्रमण अधूरा माना जायेगा, क्योंकि राजगीर की बात ही कुछ और है। वह प्राचीन काल से ही लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करता रहा है। तभी तो भगवान बुद्ध ने कहा था – रमणीय है राजगीर।

एक नारी का दुःस्वपन

मीना टण्डन, दमोह

मोहन और ममता का का विवाह हुआ तो परिवार के सभी लोग बहुत खुश हुये, परन्तु कुछ दिन बाद ही मोहन का ट्रांसफर दूसरे शहर में हो गया। लेकिन, वहाँ पड़ोसी अच्छे थे, मोहन और ममता का मिलनसार व्यवहार भी तारीफ के काबिल था। एक बेटा व एक बेटी पाकर दोनों अपने आपको खुशनसीब मानते थे। एक दिन मोहन और ममता में किसी बात को लेकर अनबन हो गई। जब मोहन ने दो दिन तक उससे बात न की तो उसने एक कठोर निर्णय ले लिया कि वह चुपचाप घर छोड़कर चली जायेगी।

रात के १२ बजे थे; सब सो रहे थे, पर ममता की बैचेनी बढ़ती जा रही थी, धीरे से दरवाजा खोलने की आवाज हुई और अब ममता स्वतंत्र थी। घर छोड़ने का निर्णय तो बिना सोचे-समझे ले लिया, पर अब जायेगी कहाँ? मायके जायेगी तो सभी नाराज होंगे व कितने दिन रखेंगे? असुरक्षा का भय उसके ऊपर हावी हो रहा था। कुछ दूर चलने पर उसे 'श्रीरामजी आश्रम' दिखा। वहाँ जाकर बैठी। वहाँ कथा-प्रवचन चल रहा था। प्रसंग था – सीताजी ने ज्योंही लक्ष्मण -रेखा पार की, दुष्ट रावण उन्हें उठाकर ले गया और उसका फल सीता मैया को अन्तिम समय तक भुगतना पड़ा।

उसे गलती का पल-पल अहसास हो रहा था। वह वहाँ से चली। कुछ दूरी पर 'श्री युधिष्ठिर आश्रम' मिला। वहाँ प्रसंग चल रहा था – युधिष्ठिर जुए में द्रौपदी (अपनी पत्नी) को हार बैठे। गलती किसी भी हो, परिणाम दोनों को भुगतने पड़ते हैं। 'चीर-हरण' हुआ सुनते ही ममता की आत्मा काँप उठी। वह वहाँ से उठकर आगे चली। आगे श्री भोलेनाथ जी का मन्दिर था। प्रसंग चल रहा था – पार्वती जी ने पिछले जन्म में अपने पति की बात नहीं मानी और इस भूल के कारण उन्हें देह त्यागकर पुनः जन्म लेना पड़ा। आत्महत्या के ख्याल से ही ममता दुखी और व्याकुल हो उठी। उसने सोचा – "अब अगर घर लौटती हूँ, तो मोहन उसे स्वीकार नहीं करेंगे। और बच्चों का क्या भविष्य होगा?"

रात गहराती जा रही थी। उसके मन का भय चरम-सीमा पर जा पहुँचा। उसने निश्चय किया कि घर जाकर चुपचाप सो जायेगी। मोहन को पता भी नहीं चलेगा। घर की तरफ कदम बढ़ाते भगवान का नाम लेती जा रही थी। बेघर होकर अकेली औरत का निकलना कितना खतरनाक होता है, यह उसने आज ही समझा और जाना था।

अचानक उसे झटका लगा और एक भारी-भरकम हाथ उसके कन्धे पर आ पड़ा। उसने पलट कर देखा, एक गुण्डा किस्म का आदमी नशे में चूर बड़बड़ा रहा था – "कहाँ जा रही हो जॉनी?"

उससे पीछा छुड़ाकर भागी, तो पल्ला उसके हाथ में आ गया। वह जोर-जोर से चिल्लाने लगी – "मोहन, मुझे बचा लो, ऐसी गलती फिर न होगी।" पसीने से तर-बतर 'मोहन-मोहन' – चिल्लाने की आवाज सुनकर मोहन की नींद खुल गई। उसने ममता को झँकझोरते हुये कहा – "ममता ! ममता ! उठो, तुमने कोई भयानक सपना देखा है।"

मोहन के समक्ष गिड़गिड़ाते हुए वह क्षमा माँगने लगी। मोहन को भी अपनी गलती का एहसास हुआ। वह बोला – पति-पत्नी में तो खटपट लगी ही रहती है। तुमने इसे थोड़ा अधिक ही गम्भीरता से ले लिया है। ममता के आँसू पोछते हुए वह बोला – मुझे भी माफ कर दो। ❑❑❑

पुरखों की थाती

उपकर्तुं प्रियं वक्तुं कर्तुं स्नेहमकृत्रिमम् ।
सज्जनानां स्वभावोऽयं केनेन्दुः शिशिरीकृतः ।।

– चन्द्रमा की शीतलता के समान सज्जनों का यह स्वभाव ही है कि वे परोपकार करते हैं, मधुर बोलते हैं और सहज-सच्चा प्रेम करते हैं।

इज्याध्ययन-दानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ।।

– यज्ञ, शास्त्रपाठ, दान, तप, सत्य, धैर्य, क्षमा और निर्लोभता – धर्म के ये आठ मार्ग कहे गये हैं।

आपातरम्या विषयाः पर्यन्त-परितापिनः ।

– इन्द्रियों के भोग्य विषय ऊपर से मोहक लगते हैं, परन्तु परिणाम में दुखदायी होते हैं।

आत्मानदी संयमपुण्यतीर्थो
सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र
न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ।।

– हे युधिष्ठिर, अन्तरात्मा का शुद्धीकरण जल के द्वारा नहीं होता, इसके लिये तो तुम आत्मारूप नदी में स्नान करो, जिसके संयमरूपी तीर्थ हैं, सत्यरूपी जल है, शील रूपी तट हैं और जिसमें दयारूपी तरंगें उठती रहती हैं। (महाभारत)

हिन्दू धर्म की रूपरेखा (२२)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के रूप में प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मों से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझ पाना हिन्दुओं के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपने बँगला तथा अंग्रेजी ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

पुराण-कथाएँ

उपदेश तथा दृष्टान्तों की सहायता से मनुष्य को उच्चतम आदर्श की ओर प्रेरित करना ही पुराणों का लक्ष्य है। ऐतिहासिक कथाएँ, उपदेशात्मक रूपक, शिक्षादायी उपाख्यान आदि ही पुराणों के मुख्य उपादान हैं। इनमें से कुछ कथाएँ रूपकमय हैं, कुछ कवित्वपूर्ण हैं और कुछ ऐतिहासिक भी हैं। परन्तु इन सबके के माध्यम से हिन्दू धर्म के दुरूह तथा गम्भीर तत्त्वों की झलक मिल जाती है। इसके सूक्ष्म तथा अमूर्त दार्शनिक तत्त्व कथाओं के चोले में बड़े सरस, सजीव तथा भावोद्दीपक हो उठते हैं।

जनशिक्षा की यह पद्धति अत्यन्त प्राचीन काल से ही, यहाँ तक कि वैदिक 'ब्राह्मण'-ग्रन्थों के युग में भी प्रचलित थी। इन 'ब्राह्मण'-ग्रन्थों में इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी[८] के नाम से पुरावृत्त, सृष्टि-विषयक उपकथाएँ, गीति-काव्य तथा वीरों की स्तुतियाँ लिपिबद्ध हैं। इसी मूल से कालान्तर में 'पुराण' नामक एक विशिष्ट तथा विपुल साहित्य का उद्भव और विकास हुआ।

इस साहित्य का अधिकांश भाग आख्यान-मूलक काव्य है। इनमें से रामायण तथा महाभारत महाकाव्य की श्रेणी में आते हैं। यह पुराण-जातीय साहित्य, हिन्दू धर्म के उच्च तथा अमूर्त भावों तथा आदर्शों को जन-साधारण के हृदय में पहुँचाने का एक अद्भुत साधन है। इसी उद्देश्य से वैदिक 'ब्राह्मण'-ग्रन्थों के काल से ही पुराणों का उपयोग होता रहा है।[१०] आख्यान-काव्यों की आवृत्ति उस काल के धार्मिक अनुष्ठानों का एक अपरिहार्य अंग होता था। वर्ष भर चलनेवाली पुराणों की आवृत्ति के द्वारा अश्वमेध-यज्ञ का मंगलाचरण किया जाता था। राजसभा में सूत नामक एक तरह के गायक इन कविताओं की आवृत्ति और सुरपूर्वक गायन किया करते थे। मुनिगण भी किसी निर्जन स्थान में एकत्र होकर आख्यान, इतिहास तथा पुराण आदि का श्रवण करते हुए वर्षाकाल बिताया करते थे। किसी-न-किसी रूप में यह प्रथा आज भी प्रचलित दीख पड़ती है। आज भी हिन्दुओं के पर्व-अनुष्ठानों अथवा सामाजिक क्रिया-कलापों के अंग के रूप में किसी पौराणिक आख्यायिका का नाट्य अभिनय या कथा का आयोजन किया जाता है। इस प्रकार सुदूर अतीत से आज तक हिन्दू धर्म के उच्च भावों तथा आदर्शों को हृदयग्राही कथाओं तथा मर्मस्पर्शी इतिहास-कथन के द्वारा हिन्दू समाज के प्रत्येक स्तर के समक्ष प्रस्तुत किया जाता रहा है।

हिन्दू समाज में सार्वजनिक धर्मशिक्षा के प्रसार हेतु कम-से-कम विगत छह हजार वर्षों से चली आ रही यह निष्ठापूर्ण विराट् साधना निश्चय ही मानव-इतिहास की एक अद्भुत घटना है। इसमें धर्म के मामले में हिन्दुओं का असाधारण उद्यम का परिचय मिलता है। और वह उत्साह तथा उद्यम व्यर्थ नहीं गया। पुराण-कथाओं का हजारों वर्षों तक अनुशीलन करने के फलस्वरूप हिन्दू-जन-मन धर्म के भावों तथा आदर्शों से ओतप्रोत हो गया है। यद्यपि उनके लिये उच्च अमूर्त तत्त्वों की धारणा करना कठिन है, तथापि उनके रूपक पर आधारित विभिन्न कथाओं से ज्ञान से उन्हें अपना धर्म-जीवन गढ़ने की काफी प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार के शास्त्र-ज्ञान के प्रभाव से हिन्दू-समाज के निम्न स्तर के लोगों में भी किसी-किसी को उच्चतम आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये प्रेरित होते हुए देखा जाता है। वस्तुत: पुराण-कथाएँ मानो 'लीवर' (उत्तोलक-यंत्र) के समान जन-साधारण के मन को आध्यात्मिकता की उच्च भूमि पर उठा देती हैं।

अब हम देखेंगे कि हिन्दू-पूराणों में ऐसा क्या है, जो इस अद्भुत प्रभाव को उत्पन्न करता है। प्रथमत: तो इसमें ईश्वर, जीव तथा प्रकृति के विषय में हिन्दू धर्म के दुर्बोध्य तत्त्वों का सहज, सरल रूपकों की भाषा में वर्णन मिलता है। संवादों तथा उपदेशों आदि को जैसे चित्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है, वैसे ही कथाओं के माध्यम से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। चित्र या कथा, किसी सत्य को मन के ऊपर अंकित करने में सहायता मात्र करती है। उनकी सार्थकता इसी में है, वे स्वयं सत्य नहीं हैं। मानचित्र क्या है? इससे जिज्ञास्य स्थान के बारे में बहुत-सी सूचनाएँ मिल जाती हैं, परन्तु उसी में वह देश निहित नहीं है। पौराणिक कथाओं के विषय में भी यही बात लागू होती है। ये अक्षरश: सत्य नहीं हैं, तो भी उनके माध्यम से सूक्ष्म पारमार्थिक तत्त्वों का आभास मिल जाता है। प्राचीन वैदिक युग में भी कथाओं को स्तुति या निन्दा के निमित्त 'अर्थवाद' कहा जाता था। और उनका मुख्य अर्थ छोड़कर किस प्रकार वास्तविक तात्पर्य निकालना होगा, इसका भी स्पष्ट निर्देश उन दिनों प्रचलित था।

सृष्टि-वर्णन भारतीय पौराणिक साहित्य में एक अपरिहार्य विषय है। इस विषय पर थोड़ी चर्चा करने से सहज ही समझा जा सकेगा कि किस प्रकार पुराण-कथाओं के रूपक की सहायता से किसी सूक्ष्म अमूर्त तत्त्व का आभास दिया गया है। सृष्टि-तत्त्व के विषय में हम किसी एक पौराणिक उपकथा को लेते हैं।[१०] सर्वव्यापी अतल समुद्र में भासमान अनन्त-नाग के ऊपर पीताम्बर-धारी, चतुर्भुज, नीलवर्ण नारायण आँखें मूँदे स्थिर भाव से सोये हुए हैं। उस असीम एकार्णव समुद्र के जल को कारण-सलिल कहते हैं। उस समय और कुछ भी नहीं था। यही प्रलय का चित्र है। सृष्टि के ठीक पहले नारायण की नाभि से एक पद्म का उद्भव होता है और उसकी ज्योति से एकार्णव समुद्र आलोकित हो उठता है। उसी कमल के ऊपर रक्तिम वर्ण के चतुर्भुज तथा चतुर्मुख ब्रह्मा आविर्भूत होते हैं। नारायण के आदेश से ब्रह्मा ध्यान के द्वारा सृष्टि के पूर्व कल्प का स्मरण करते हैं और उसी के अनुसार पुन: विश्व-ब्रह्माण्ड की सृष्टि करना आरम्भ करते हैं।

एक अवर्णनीय विषय का यह कैसा अद्भुत चित्रण है! ऋग्वेद में प्रलय का वर्णन पढ़कर विस्मय-विमुग्ध रह जाना पड़ता है – "उस समय न सत् था और न असत्, न स्वर्ग था न मर्त्य, न मृत्यु था और न अमरत्व। ऐसा कुछ भी न था, जिससे दिन-रात का भेद किया जा सके। तब मात्र एक प्राणविहीन अद्वय सत्ता ही अपनी स्वधा शक्ति के साथ स्पन्दित हो रही थी। उनके अतिरिक्त तब अन्य कुछ भी न था। सृष्टि के पूर्व यह सब कुछ अँधेरे से ढँका हुआ अँधेरा मात्र था और कारण में लीन था। जो ब्रह्माण्ड प्रलय के समय सर्वव्यापी पर तुच्छ अज्ञान-अन्धकार से आवृत्त था, वह सृष्टि के समय ईश्वर के संकल्प-मात्र से नाम-रूप के माध्यम से अभिव्यक्त होने लगा।"[११] ऋग्वेद के इस वर्णन में कारण के अर्थ में 'सलिल' शब्द का उपयोग हुआ है। 'सलिल' शब्द का यह प्रयोग वर्तमान प्रसंग में विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इस शब्द का प्रचलित अर्थ पानी होता है। वस्तुत: पश्चिम के एक विद्वान् ने इस ऋचा का अनुवाद इस प्रकार किया है – "सब ओर फैला हुआ एक अभेद्य जल-प्लावन"। अस्तु, कारण अर्थ में 'सलिल' शब्द के औपचारिक प्रयोग के फल-स्वरूप ही सम्भवत: पौराणिक सृष्टि-सम्बन्धी वर्णनों में कारण का रूपायन एक सर्वव्यापी अतल समुद्र के रूप में हो गया है। उस परम अद्वय सत्ता को नारायण के रूप में तथा उनकी 'स्वधा' नामक शक्ति को योगमाया के रूप में मूर्त किया गया है।

इस पौराणिक वर्णन के कारण सृष्टि तथा प्रलय-सम्बन्धी कुछ वेदोक्त तत्त्व हमारे हृदय में अंकित हो जाते हैं। यथा – प्रलय के समय ब्रह्म अपनी माया-शक्ति के साथ अकेले ही विद्यमान थे; और बाकी सब कुछ मानो एकार्णव-रूपी कारण-अवस्था में लीन हो गया था। सृष्टि के ठीक पूर्व ईश्वर की इच्छा से उनकी माया के प्रभाव से उनके भीतर से ही ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) का आविर्भाव होता है और उनके द्वारा ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है। उपरोक्त पौराणिक वर्णन की थोड़ी व्याख्या करते ही सृष्टि तथा प्रलय विषयक ये सारे वैदिक तत्त्व समझ में आ जाते हैं। वैसे अति स्थूल बुद्धि का व्यक्ति इसमें अन्तर्निहित तत्त्व की धारणा न भी कर सके, पर वह भी इस पौराणिक चित्र के द्वारा सृष्टि-रहस्य की कम-से-कम इस मूल बात को तो समझ ही लेगा कि शक्तिसहित ईश्वर ही जगत् के कारण हैं और वे ही विश्व के स्रष्टा तथा उपादान भी हैं। सामान्य व्यक्ति के लिये इस धारणा का भी महत्त्व कम नहीं है।

इस प्रकार पुराणों के चित्रात्मक विवरण, जन-साधारण के मन में ईश्वर, जीव तथा प्रकृति विषयक हिन्दू धर्म के मूल तत्त्वों की धारणा अंकित कर देते हैं।

एक बात और है – पुराणों ने इतिहास, किम्वदन्ती, रूपक आदि के माध्यम से ज्ञान असंख्य मर्मस्पर्शी चारित्रिक आदर्शों के द्वारा हिन्दू धर्म को समृद्ध किया है। इसी प्रकार सैकड़ों महिमामय जीवनों के दृष्टान्त जन-साधारण के मन में अंकित हो चुके हैं। ये चरित्र हिन्दू जीवन के एक-एक अनुकरणीय आदर्श के रूप में समाज में प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार प्राचीन काल से ही कोई-न-कोई पौराणिक पूत-चरित्र नर-नारी – राजा, वीर, गृहस्थ, संन्यासी, भक्त, पिता, माता, स्त्री, पति, पुत्र, भ्राता, भृत्य आदि प्रत्येक सामाजिक पद या सम्बन्ध के अनुकरणीय आदर्श के रूप में हिन्दू समाज में प्रतिष्ठित हो चुके हैं। इन असंख्य पौराणिक आदर्श चरित्रों से हिन्दू जीवन सुनियंत्रित करने हेतु अब तक अनन्त आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त होती रही है। उनमें राम, कृष्ण, अर्जुन, युधिष्ठिर, भीष्म, वशिष्ठ, विदुर, नल, हरिश्चन्द्र, कर्ण, गान्धारी, सीता, सावित्री, लक्ष्मण, भरत तथा हनुमान विशेष उल्लेखनीय हैं।

एक बात और है – ये कथाएँ ज्ञानगर्भित भी हैं। प्रत्येक कथा मानो हृदय में किसी विशेष उपदेश को अंकित कर देती हैं। हिन्दू-जीवन से सम्बन्धित किसी महत्त्वपूर्ण विषय को कथा के माध्यम से सजीव कर डालने में ही इनकी सार्थकता है। प्रत्येक कथा के माध्यम से पारमार्थिक तत्त्व, अध्यात्म-साधना, नीतिविद्या, वर्णाश्रम-धर्म आदि में से किसी-न-किसी विषय की, कोई-न-कोई विशेष शिक्षा सहज तथा सरस भाव से प्राप्त हो जाती है।

परिणाम-स्वरूप धर्म की विजय अवश्यम्भावी है। काम, क्रोध, लोभ, हिंसा, दम्भ आदि आसुरी भावों की प्रतिष्ठा क्षणिक होती है। अन्त में अपरिहार्य रूप से उनकी पराजय होती है। पुराणों की अधिकांश कथाएँ – **यतो धर्मस्ततो जयः** – इस सनातन आध्यात्मिक नियम को मन में अंकित कर देती हैं। **यतो धर्मस्ततो जयः** – यह सत्य ही मानो प्रत्येक

पौराणिक कथा का मूलमंत्र है। असंख्य तथा विविध उदाहरणों द्वारा प्रचारित होनेवाले इस सत्य में विश्वास ने हिन्दुओं के हृदय में जड़ जमा लिया है और इसी के द्वारा उसका समग्र जीवन अनुप्राणित है। इसी के प्रभाव से हिन्दू समाज ने जड़ शक्ति के स्थान पर आत्मिक शक्ति के ऊपर निर्भर करना सीखा है। क्षात्रबल के पीछे धर्मनिष्ठा होना अनिवार्य है। दुष्टों के दमन तथा शिष्टों के पालन आदि केवल भले उद्देश्यों से ही अस्त्र-धारण का विधान है। अन्यथा, चाहे किसी में कितनी भी सामरिक प्रतिभा क्यों न हो, उसका अन्तिम परिणाम दुखद ही होता है। रामायण में आसुरी वृत्ति-परायण अतिमानव रावण का उसके वंश-सहित नाश का वर्णन प्राप्त होता है। महाभारत में हम देखते हैं कि अधर्मरत कौरवों के पास प्रभूत जनबल तथा असाधारण युद्ध-संचालन की प्रतिभा रहने के बावजूद उनका सर्वनाश हो जाता है। विशेषकर इन दो उदाहरणों ने हिन्दुओं के मन में यह विश्वास दृढ़ रूप से अंकित कर दिया है कि धर्म की विजय और अधर्म की पराजय अवश्यम्भावी है।

फिर श्रीराम तथा श्रीकृष्ण – इन दो अवतारों की लीला से संबलित रामायण तथा महाभारत की आध्यात्मिक सम्पदा अतुलनीय है। अवतार के जीवन का स्मरण एक उत्कृष्ट साधना और विशेष फलदायी है। रामायण तथा महाभारत में साधना के ऐसे पर्याप्त सुयोग तथा प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं। इन दोनों आख्यानों के माध्यम से ईश्वर मानो श्रीराम या श्रीकृष्ण की मूर्ति में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। विशेषकर जब रामायण या महाभारत के किसी अंश का नाट्याभिनय देखा जाता है, तब मानो हम अवतार-रूपी नारायण को अपनी आँखों के समक्ष देख पाते हैं, यहाँ तक कि मानो हम उनका स्पर्श तक कर सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार इनकी सहायता से हमारा मन ईश्वर की ओर उन्मुख होता है। श्रीमद् भागवत में भी अनेक ज्ञान की बातों तथा विविध उपदेश-मूलक कथाओं के अतिरिक्त श्रीकृष्ण के जीवन के एक अन्य पहलू का जो हृदयग्राही चित्रण मिलता है, हिन्दू-जीवन पर उसका आध्यात्मिक प्रभाव ऐसा ही गहन तथा व्यापक है।

एक अन्य दृष्टि से भी पुराणों की अपूर्व सार्थकता दिखाई देती है। दो विपरीत कर्तव्यों के सामने आ पड़ने पर जो उभय-संकट उपस्थित होते हैं, पुराण-कथाओं में उनके अद्भुत समाधान प्राप्त होते हैं। श्रीरामचन्द्र की दृष्टि में स्त्री के प्रति पति के कर्तव्य की अपेक्षा प्रजा के प्रति राजा के कर्तव्य का महत्त्व कहीं अधिक था। भरत को धर्मनिष्ठ भ्राता के प्रति कर्तव्य की तुलना में सत्तालोभी तथा ईर्ष्यालु माता के प्रति कर्तव्य तुच्छ प्रतीत हुआ। विभीषण कामातुर भाई के प्रति कर्तव्य की उपेक्षा करके शत्रु-स्थानीय भगवान श्रीरामचन्द्र की शरण में गये। दानवीर कर्ण को भूखे अतिथि के प्रति कर्तव्य की तुलना में अपने पुत्र के प्रति कर्तव्य तुच्छ प्रतीत हुआ। इसी तरह के सैकड़ों उपाख्यानों के माध्यम से हमें अनेक मूल्यवान उपदेश प्राप्त होते हैं, जिनकी सहायता से उभय-संकट में पड़ने पर हमें अपना कर्तव्य निर्धारित करने में सहायता मिल सकती है। प्रत्येक प्रसंग का स्पष्ट निर्देश यही है कि व्यक्ति नश्वर शरीर तथा संकीर्ण स्वार्थ-भाव की उपेक्षा करके आत्मिक उन्नति की ओर अग्रसर हो। उभय-संकट के समय कर्तव्य-निर्धारण में यही मानो मूल सूत्र है।

इन असंख्य आख्यायिकाओं में सत्य, अहिंसा आदि शुभ वृत्तियों के सजीव चित्रण के अतिरिक्त बीच-बीच में दर्शन तथा व्यावहारिक धर्म विषयक प्रांजल तथा मनोज्ञ आख्यान भी मिलते हैं। नाटकीय पृष्ठभूमि तथा सरल भाषा विषय को सहज, सरस तथा हृदयग्राही बना देती है। इसी कारण अधिकांश हिन्दू इसी तरह की कथाओं द्वारा धर्म तथा दर्शन की शिक्षा प्राप्त करते हैं। हिन्दुओं के सर्वाधिक लोकप्रिय शास्त्र 'गीता' तथा 'देवी-माहात्म्य' (दुर्गा-सप्तशती), क्रमश: महाभारत तथा मार्कण्डेय पुराण के अन्तर्गत आख्यायिका की नाटकीय पृष्ठभूमि में प्राप्त होनेवाले इसी प्रकार के तत्त्व-ज्ञान-बहुल ग्रन्थ हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि वेद के सूक्ष्म तथा गम्भीर तत्त्वों का उपकथा में रूपायन, आदर्श-चरित्रों के मनमोहक चित्रण, शिक्षाप्रद कथाएँ और धर्म तथा दर्शन विषयक ज्ञानोद्दीपक कथाओं आदि के माध्यम से हिन्दुओं की जीवन-धारा को आध्यात्मिकता के कगारों के बीच प्रवाहित करने में पौराणिक कथाओं से असीम सहायता प्राप्त होती है।

सन्दर्भ-सूची –

८. A History of Indian Literature by Winternitz, Vol. 1, p. 226
९. Ibid, p. 311 १०. भागवत पुराण, ३/८
११. ऋग्वेद, १०/१२९/१-३

❖ (क्रमशः) ❖

बेताब केवलारवी के तीन भजन

- १ -

माया हाथ बिकायो, रे मूरख,
राम नाम नहीं गायो ।।
मर-मर के जो माया जोरी,
काम जरा न आवे तोरी ।
प्रीत प्रभु की पार लगावे,
साँचो धन न कमायो ।। रे मूरख.।।

देह मनुज की कोरी चदरिया,
कर करनी करी मैल चदरिया ।
प्रीत न जोड़ दयासागर से,
औसर गजब गवायो ।। रे मूरख.।।

भगत-बछल प्रभु दीन-दयाला,
छिन में निवारे कठिन कराला ।
ऐसे दयानिधि नाथ के आगे,
दीन दशा न सुनायो ।। रे मूरख.।।

नाम प्रभु को तारनहारो,
कलि-मल दोष निवारनहारो ।
कहे 'बेताब' सरन जो प्रभु की,
ताहे न हरि बिसरायो ।। रे मूरख.।।

- ३ -

सुनावे महिमा वेद पुरान,
रे मूरख मन, कर राम को ध्यान ।।

हरि बिन जग दूजो नहीं कोई,
प्रभु चाहे जो पल में होई ।
तारन-तरन छोड़ जग-जाला
हरि सुमिरन मन ठान ।। रे मूरख मन.।।

नारद, शारद और महेशा,
हनुमत, उधो और गनेशा ।
ध्यावें रात दिना हरि चरना,
छोड़ सकल अभिमान ।। रे मूरख मन.।।

तुलसी, सूर औ भगत कबीरा,
नरसी, नामदेव औ मीरा ।
सुमर-सुमर जग अमर भये रे,
तोहे नहीं कछु भान ।। रे मूरख मन.।।

प्रीत के रीत निभावें नाथा,
सुन मूरख प्रभु हैं जगनाथा ।
कहै 'बेताब' सुमरि हरि निशदिन,
कर अमृत रस पान ।। रे मूरख मन.।।

- ३ -

दिलकशी साँवरे कन्हैया में
ऐसा दिलवर नहीं है दुनिया में ।
सिर पे धारे है प्यारा मोर मुकुट
और पीताम्बरी कमरिया में ।।
पहने दिलकश गले में वनमाला,
डोले हैं प्रेम की नगरिया में ।।
लूट लेवें हैं छेड़कर तानें,
जाने क्या जादु है मुरलिया में ।।
दिल में बसता है दिलरुबा मेरा,
नहीं रहता किसी नगरिया में ।।
नाम सुमरन-भजन जो करते हैं,
दुख नहीं पाते वो उमरिया में ।।
कुछ कहीं और नहीं ऐ 'बेताब'
कुछ अगर है तो है सँवरिया में ।।

राममोहन शर्मा 'मोहन' की दो कविताएँ

- १ -

स्वामी विवेकानन्द

शिकागो में 'शून्य' से
'दर्शन' दिया युगधर्म का,
स्वयं के व्यक्तित्व को,
'दर्पण' बना शुभ कर्म का ।
'आचरण' से भाषणों के
'प्रश्न' उत्तरहीन करके,
विश्व में डंका बजाया था,
सनातन-धर्म का ।।

- २ -

गंगा की महिमा

हिमगिरि से चल,
छल-छल, कल-कल
प्यार-दुलार लुटा रहीं गंगे ।
पाप-पहार को, पुण्य प्रहार से
छार-कछार बिछा रहीं गंगे ।
सुमरन, दर्शन, पान, स्पर्श से,
मोक्ष को द्वार, सजा रहीं गंगे ।
'मोहन' मानस में बसि के,
काशी-हरिद्वार, बना रहीं गंगे ।।

रतलाम में श्रीरामकृष्ण-मन्दिर

शुक्रवार, १८ नवम्बर, २००५ को श्रीरामकृष्ण आश्रम, रतलाम में एक नये मन्दिर का निर्माण कर भगवान श्रीरामकृष्ण देव, श्रीमाँ सारदा एवं स्वामी विवेकानन्द के चित्रों की स्थापना की गयी। इस पावन दिवस को ब्रह्म मुहूर्त में वैदिक मन्त्रों, विशिष्ट पूजन-हवन तथा यज्ञादि सम्पन्न होने के बाद उक्त त्रिदेवों के भव्य चित्रों की स्थापना स्वामी विष्णुपादानन्दजी, स्वामी राघवेन्द्रानन्दजी एवं स्वामी अपरोक्षानन्दजी ने किया। इस उपलक्ष्य में १६ नवम्बर से १८ नवम्बर तक त्रिदिवसीय कार्यक्रम आयोजित था, जिसमें मुम्बई, इंदौर, उज्जैन, रायपुर तथा रतलाम के विशाल भक्त-समुदाय ने उपरोक्त तीनों स्वामी लोगों के प्रवचन एवं आध्यात्मिक निर्देशन का लाभ उठाया। तीनों दिन भगवान श्रीरामकृष्णदेव, श्रीमाँ सारदा एवं स्वामी विवेकानन्द जी के जीवन-दर्शन पर व्याख्यान हुये। १८ नवम्बर की सार्वजनिक सभा में लगभग १००० सुशिक्षित समर्पित भक्तों ने भाग लिया तथा लगभग २००० भक्तों को एक विशाल शामियाने में प्रसाद खिलाया गया।

श्रीरामकृष्ण प्रेरणा, भुवनेश्वर (उड़िसा)

६ नवम्बर, २००५ को सायं ५ बजे, श्रीरामकृष्ण प्रेरणा के तत्त्वावधान में आइ. आर. सी. विलेज में स्थित गवर्नमेन्ट हाई स्कूल में श्रीमाँ सारदा के जीवन-दर्शन पर एक सभा आयोजित हुई, जिसे गुण्टूर सारदा मठ की प्रव्राजिका भवानीप्राणा और पद्मिनी त्रिपाठी ने सम्बोधित किया। इस सभा का संचालन विद्यालय के प्रधानाध्यापक श्री पी. के. स्वान ने किया। श्रीमती काबेरी घोष के माँ सारदा वन्दना से सभा सम्पन्न हुई।

काँथी का रामकृष्ण मठ तथा मिशन सेवाश्रम

इतनी धूल कि बार-बार झाड़ू लगाना पड़ता है और थोड़ी देर बाद ही फिर एक-डेढ़ इंच बालू आकर जम जाता है। इसी तरह मेदिनीपुर के रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम की शुरुआत हुई। पर यह ७५ वर्ष पहले की बात है। अब तो यह केन्द्र काफी उन्नत और समृद्ध है। इस केन्द्र के विभिन्न प्रकार के राहत और सेवा-कार्य दूर-दूर तक फैले हुये हैं। आश्रम २००३-०४ में समुचित समारोह के साथ अपना प्लैटिनम जुबली मनाया।

बंगाल की खाड़ी के पास स्थित काँथी में बाढ़ आती ही रहती है। १९१३ ई. में भी ऐसी ही घटना हुई, पर उस समय वहाँ पर केवल सेवा ही नहीं हुई, अपितु एक नई सृष्टि के लिये बीजारोपण भी हुआ। उस बार स्वर्णरेखा और केलेघई नदी के बाढ़ से पूरा काँथी जिला और मेदिनीपुर तथा तमलुक जिलों के काफी भाग डूब गये थे। बाद में पीड़ितों के रक्षार्थ बेलूड़ मठ के संचालकों ने स्वामी भूमानन्द जी को भेजा। उनके साथ समाजसेवी माखनलाल सेन तथा कुछ अन्य लोग भी थे। राहत-कार्य पूरा होने के बाद स्वामी भूमानन्दजी ने प्रमथनाथ बन्द्योपाध्याय, दक्षिणाचरण काव्यतीर्थ आदि कुछ स्थानीय सज्जनों के समक्ष प्रस्ताव रखा कि अब से वे गरीब बच्चों के लिए शिक्षा, भोजन तथा आवास की व्यवस्था करें। इसी प्रकार इस महान् सम्भावना का श्रीगणेश हुआ।

इसके कुछ दिन बाद ही मनोहरच के राजा कैलाशचन्द्र के भवन में श्रीरामकृष्ण सेवाश्रम का शुभारम्भ हुआ। पर सहसा आग से भवन के जल जाने से १९१३ में सेवाश्रम का कार्य प्रमथनाथ बन्द्योपाध्याय के घर के सामने स्थित कालीप्रसाद दत्त के मकान में नये ढंग से शुरू हुआ। कच्चे मकान के बैठकखाने में श्रीरामकृष्ण की पूजा, आरती तथा संध्या को प्रसाद-वितरण होता था। आश्रम में चार लड़कों के भोजन तथा शिक्षण की सुव्यवस्था की गई। इस उद्देश्य से सेवाश्रम में 'विद्यार्थी-भवन' नामक एक छात्रावास शुरू हुआ। इसी समय प्रियनाथ मुखोपाध्याय नामक एक युवक (बाद में स्वामी पूण्यानन्द) ढाका से अपने पिता के कर्मस्थल काँथी में आये। प्रमथनाथ के अनुरोध पर सेवा-कार्य हेतु उन्होंने कुछ दिनों तक सेवाश्रम में निवास किया।

सेवाश्रम के इतिहास की एक उल्लेखनीय घटना यह है कि अमेरिका से लौटने के बाद स्वामी अभेदानन्द जी काँथी आकर कुछ दिन सेवाश्रम में ठहरे थे। प्रतिदिन संध्या-आरती के समय वे श्रीरामकृष्ण की चित्र की प्रदक्षिणा करते हुए भक्तों के साथ मिलकर – (भावार्थ) 'रुपया-मिट्टी, मिट्टी-रुपया' और 'मानव-जीवन को असार समझकर' भजन गाते। वहाँ एक धर्मसभा में उन्होंने व्याख्यान भी दिया था। श्रीरामकृष्ण के एक अन्य पार्षद स्वामी विज्ञानानन्द का भी काँथी सेवाश्रम में पदार्पण हुआ था।

वह भवन बिक जाने पर सेवाश्रम शहर के बीच में स्थित श्रीमाँ के मंत्रशिष्य देवेन्द्रनारायण मजुमदार के किराये के मकान में चलता था। इन दिनों श्रीमाँ के एक अन्य मंत्रशिष्य सिद्धूनाथ पण्डा एक सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में सेवाश्रम से जुड़े थे। उक्त मकान में सेवाश्रम स्थानान्तरित होने के पूर्व १९१७ ई. में काँथी के जमींदार सुरेन्द्रनाथ शासमल की माँ नारायणी देवी ने बेलूड़ मठ को १० कट्ठे भूमि दान किया था। सुरेन्द्रनाथ आदि प्रमुख सहयोगियों के आग्रह पर युवक प्रियनाथ ने बेलूड़ मठ

जाकर स्वामी शिवानन्द जी महाराज से काँथी आश्रम में रहने की अनुमति माँगी। महाराज ने उन्हें दीक्षा प्रदान की और काँथी-सेवाश्रम का प्रभारी बना दिया। दीक्षा के बाद प्रियनाथ ने काँथी लौटकर सेवाश्रम के विकास हेतु कार्य आरम्भ किया। बाद में, १९२६ ई. में संन्यास प्राप्त कर वे स्वामी पुण्यानन्द के रूप में सुपरिचित हुए। १९२३ ई. में सेवाश्रम हेतु प्राप्त भूमि पर खर की छतवाली कच्ची झोपड़ी बनवाकर स्थायी रूप से श्रीरामकृष्ण मठ-मिशन का कार्य आरम्भ किया। यहीं 'सुरेन्द्र -पाठागार' तथा 'होम्योपैथी चिकित्सालय' शुरू हुआ, जिसमें डॉ. हेमचन्द्र माइती चिकित्सक के रूप में काम करते थे। केवल धूल और बालू ही नहीं, आश्रम को और भी अनेक प्रतिकूलताओं का सामना करना पड़ा। उपयुक्त चहारदीवारी नहीं होने के कारण पशु आदि जब-तब आश्रम में घुस आया करते थे।

१९२२ ई. में सुरेन्द्रनाथ शासमल ने दक्षिण परगना जिले के सुन्दरवन में करीब ५ बीघा आवासीय तथा ४५ बीघा खेती की जमीन सेवाश्रम को दान किया। बाद में १९२५ ई. में उनके पुत्र नरेन्द्रनाथ ने सेवाश्रम के प्रथम पक्का भवन बनवाने के लिए (वर्तमान आश्रम के प्रवेश-द्वार के पास) धन दिया। यह भवन बन जाने के बाद १९२८ में काँथी-आश्रम बेलूड़ मठ से युक्त हो गया। इस वर्ष स्वामी रम्यानन्द ने अध्यक्ष तथा स्वामी निर्वाणानन्द ने प्रधान पर्यवेक्षक के रूप में मिशन का कार्य शुरू किया। १९२९ में स्वामी पुण्यानन्द जी अध्यक्ष तथा सुरेन्द्रनाथ बसु संचालन-समिति के अध्यक्ष निर्वाचित हुए।

स्वामी पुण्यानन्द के कार्य में ब्रह्मचारी राखाल महाराज (बाद में स्वामी इष्टानन्द) विशेष रूप से सहायता करते रहे। क्रमश: आश्रम का कार्य बढ़ता रहा। विभिन्न संघाध्यक्षों – पूज्य स्वामी माधवानन्द जी, वीरेश्वरानन्द जी, गम्भीरानन्द जी, भूतेशानन्द जी का भी अपने-अपने कार्यकाल में वहाँ पदार्पण हुआ और पश्चिमी बंगाल के भूतपूर्व राज्यपाल डॉ. कैलाशनाथ काटजू आदि विशिष्टि व्यक्तियों का भी आगमन हुआ।

स्वामी पुण्यानन्द जी तथा ब्र. राखाल महाराज के पुरुषार्थ से, काँथी रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम के शाखा-केन्द्र के रूप में, १९२८ में दक्षिणी चौबीस परगना जिले के सुन्दरवन के मनसा द्वीप में एक आश्रम और बाद में एक प्राथमिक विद्यालय की स्थापना हुई। परवर्ती काल में वह बेलूड़ मठ से एक स्वाधीन केन्द्र के रूप में जुड़ गया और प्राथमिक विद्यालय से हायर-सेकेंड्री विद्यालय में परिणत हुआ। १९५९ में 'जिला विद्यालय समिति' ने इस विद्यालय का अधिग्रहण किया।

कहा जा चुका है प्रारम्भ में आश्रम के कच्चे मकान में ठाकुर की पूजा होती थी। १९५९ में एक नये मन्दिर की नींव रखी गयी और बेलूड़ मठ के तत्कालीन महासचिव स्वामी माधवानन्द जी महाराज ने उक्त मन्दिर में श्रीरामकृष्ण का चित्र स्थापित कर मन्दिर को ठाकुर-सेवा हेतु समर्पित किया। १९७९ में मन्दिर का पुनर्निर्माण, गर्भगृह-निर्माण आदि आरम्भ हआ। १९८४ में बेलूड़ मठ के दशम अध्यक्ष स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज ने मन्दिर में श्रीरामकृष्ण का चित्र स्थापित कर उसका उद्घाटन सम्पन्न किया। बाद में १९८६ में रसोईघर तथा भोजनालय हेतु 'माँ-सारदा भवन' का निर्माण हुआ। इस मन्दिर तथा भवन में श्रीरामकृष्ण की संगमर्मर मूर्ति की प्रतिष्ठा बेलूड़ मठ के एकादश अध्यक्ष स्वामी गम्भीरानन्द महाराज ने की।

इस समय सेवाश्रम से संचालित हो रहे कार्यों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं – छात्रावास, पुस्तकालय, दातव्य चिकित्सालय तथा विभिन्न ग्रामीण-विकास योजनाएँ। छात्रावास की शुरुआत १९१७ ई. में हुई। १९५१ में एक भवन बनाकर आवासीय छात्रों के लिये 'विवेकानन्द छात्रावास' की स्थापना हुई। अब इसमें लगभग ३० ग्रामीण छात्रों के निवास की व्यवस्था है। आश्रम का 'सुरेन्द्र-वाचनालय' १९२२ में आरम्भ हुआ, जिसमें इस समय ६००० पुस्तकें हैं। १९८८ से ग्रामीण-विकास-योजना के तहत इस अंचल के गरीब और अविकसित लोगों के विकास हेतु शिक्षा, स्वास्थ्य, स्व-रोजगार हेतु प्रशिक्षण आदि कार्य विशेष उल्लेखनीय हैं। १३ अपरम्परागत शिक्षा-केन्द्रों द्वारा समुद्र तटवर्ती अंचल तथा उसके आसपास के कुछ ग्रामों के ५०० छात्रों को शिक्षा दी जाती है। इसी प्रकार और भी १० केन्द्रों में मछुआरों, रिक्शा-चालकों, मजदूरों आदि के बच्चों को आठवीं तक नि:शुल्क कोचिंग की व्यवस्था की गई है। इसके सिवा ग्रामवासियों के लिये विभिन्न ग्रामों के ७ केन्द्रों पर सप्ताह में दो बार नि:शुल्क होम्योपेथी-चिकित्सा की जाती है। युवक-युवतियों के आर्थिक स्वावलम्बन तथा स्व-रोजगार हेतु उपर्युक्त मुख्य कार्यों के अलावा वयस्क महिलाओं के लिये नि:शुल्क शिक्षा, कार्यरत महिलाओं के लिये रात्रि-पाठशाला, नि:शुल्क एलोपैथिक चल-चिकित्सालय; निर्धन, रुग्ण तथा आम जनता की आर्थिक सहायता तथा सामाजिक कल्याण हेतु काँथी-आश्रम विभिन्न योजनाओं के माध्यम से कार्यरत है। आश्रम में नित्य पूजा, संकीर्तन आदि धार्मिक कार्यक्रम होते रहते हैं। महापुरुषों की जन्मतिथियाँ मनाई जाती हैं और दुर्गापूजा, कालीपूजा तथा सरस्वती-पूजा का भी अयोजन होता है।

सेवाश्रम का प्लैटिनम जुबली उत्सव १-२ मई (२००४) को विशेष पूजा, साधु-सेवा, भजन-कीर्तन तथा विविध सांस्कृतिक कार्यक्रम के साथ सम्पन्न हुआ। उत्सव के विशेष-अंग के रूप में २ मई को रामकृष्ण मठ-मिशन के सहायक सचिव स्वामी सुहितानन्द जी महाराज ने आश्रम के दातव्य चिकित्सालय का उद्घाटन किया। इस दिन १४१ रोगियों की चिकित्सा की गई तथा उन्हें फल-मूल वितरित किये गये। उत्सव के दोनों दिन अपराह्न में होनेवाली सभाओं की अध्यक्षता स्वामी रमानन्द जी महाराज ने की। स्वामी श्रीनिवासानन्द जी एवं स्वामी आत्मदेवानन्द जी ने क्रमश: 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' तथा 'श्रीरामचरित-मानस' का पाठ तथा व्याख्या की। हजारों भक्त नर-नारियों की उपस्थिति से कार्यक्रम आनन्दमय हो उठा। ❑❑❑